

# मानव-स्वातंत्र्य की दृष्टि से सन्त साहित्य का अध्ययन

(कबीर, गुरु नानक देव और रैदास का विशिष्ट सन्दर्भ)

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ की  
पी-एच० डी० (हिन्दी) की उपाधि-हेतु  
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध  
1998



प्रस्तुतकर्त्री  
प्रवीता शर्मा  
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़  
160014



पूजनीय माता-पिता जी  
एवम्  
श्रद्धेय गुरुवर को  
सादर समर्पित

## विषयअनुक्रमणिका

आभार

विषय उपस्थापन

1-16

- 1 विषय कथन
- 2 सम्बद्ध साहित्य का सर्वेक्षण
- 3 विषय परिसीमन
- 4 अध्ययन का महत्त्व
- 5 अध्ययन का अनुक्रम

प्रथम अध्याय : मानव स्वातन्त्र्य का विचारधारात्मक संघठन,  
आयाम एवम् घटक तत्त्व

17-83

1.1 मानव स्वातन्त्र्य का विचारधारात्मक संघठन

1.1.1 मध्यकालीन

1.1.1.1 पूर्वमध्यकाल

1.1.1.1.1 बौद्ध दर्शन

1.1.1.1.2 जैन दर्शन

1.1.1.1.3 अद्वैत दर्शन

1.1.1.2 उत्तरमध्यकाल

1.1.1.2.1 नाथ सम्प्रदाय

1.1.1.2.2 सिद्ध सम्प्रदाय

1.1.1.2.3 तंत्र

1.1.1.2.4 कापालिक

1.1.1.2.5 शाक्त साहित्य

1.1.1.2.6 भक्तिकाल के विभिन्न दार्शनिक मत

## 1 .1.2 आधुनिक

1 .1.2.1 अस्तित्ववादी

1 .1.2.2 मार्क्सवादी

1 .1.2.3 आधुनिकतावादी

## 1 .2 मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयाम

### 1.2.1 समाज-ऐतिहासिक

1.2.1.1 आदिम समाज व्यवस्था और मानव स्वातन्त्र्य

1.2.1.2 सामन्तवादी समाज व्यवस्था और मानव स्वातन्त्र्य

1.2.1.3 पूंजीवादी समाज व्यवस्था और मानव स्वातन्त्र्य

1.2.1.4 समाजवादी समाज व्यवस्था और मानव स्वातन्त्र्य

### 1.2.2 समाज-सांस्कृतिक

1.2.2.1 पूर्ववैदिक संस्कृति

1.2.2.2 वैदिक संस्कृति

1.2.2.3 औपनिषदिक संस्कृति

1.2.2.4 श्रमण संस्कृति

1.2.2.5 पौराणिक संस्कृति

### 1.2.3 दार्शनिक

1.2.3.1 वैदिक दर्शन

1.2.3.2 औपनिषदिक दर्शन

1.2.3.3 चार्वाक दर्शन

1.2.3.4 षड्दर्शन

1.2.3.5 बौद्ध दर्शन

1.2.3.6 जैन दर्शन

1.2.3.7 अद्वैत-वेदान्त

1.2.3.8 नाथ सम्प्रदाय

1.2.3.9 सिद्ध मत

1.2.3.10 कापालिक

1.2.3.11 शाक्त दर्शन

## 1 .3 सन्त साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयाम



द्वितीय अध्यायः मानव स्वातन्त्र्य : घटक तत्त्व

84-116

- 2.1 मानवाधिकार चेतना
- 2.2 मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा
- 2.3 रूढ़िबद्धता से मुक्ति
- 2.4 बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति
- 2.5 निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा
- 2.6 सामाजिक समानता एवम् व्यंग्य हेतु निर्भीक मनोगठन
- 2.7 वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या
- 2.8 जातीय- साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत बन्धन मुक्ति

तृतीय अध्याय : मानव स्वातन्त्र्य एवम् सन्त साहित्य  
( कबीर, गुरुनानक देव एवम् रैदास  
का विशिष्ट सन्दर्भ )

117-207

- 3.1 सन्त साहित्य में मानवाधिकार चेतना
- 3.2 सन्त साहित्य में मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा
- 3.3 सन्त साहित्य में रूढ़िबद्धता से मुक्ति
- 3.4 सन्त साहित्य में बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति
- 3.5 सन्त साहित्य में निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा
- 3.6 सन्त साहित्य में सामाजिक समानता एवम् व्यंग्य हेतु निर्भीक मनोगठन
- 3.7 सन्त साहित्य में वैश्विक सत्य की मानव केन्द्रित पुनर्व्याख्या
- 3.8 सन्त साहित्य में जातीय- साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत बन्धन मुक्ति

उपसंहार

208-222

निर्णय एवम् उपलब्धियाँ

सहायक ग्रन्थ सूची

पत्रिकाएँ

## आभार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध परमश्रद्धेय, परमादरणीय गुरु, स्नेह तथा प्रतिभा के धनी डॉ० अमर सिंह, प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, सरकारी कालेज, होशियारपुर के शुभाशीर्वाद से सम्पन्न हुआ। मेरे लिए वे शब्द ढूंढ पाने अत्यन्त कठिन है, जो कि गुरु के प्रति आभार प्रकट करने में सक्षम हों। इसके लिए उनकी चिरऋणी रहूंगी।

मैं पंजाब विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग के सभी प्राध्यापकों एवम् प्रशासनिक कर्मचारियों के प्रति आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मुझे मार्ग-दर्शन एवम् सहयोग दिया। मैं सुश्री शब्द कपूर, प्रभारी, शोध-अनुभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, पुस्तकालय की हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरी सहायता की है।

शोध प्रबन्ध के अनुसन्धान के कार्य में मेरा मार्ग प्रदर्शन करने में प्राध्यापक डॉ० पदमगुरचरण सिंह, गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, डॉ० विनोद शाही प्राध्यापक सरकारी कालेज होशियारपुर, प्राध्यापक भारत भूषण भारती, प्राध्यापक आर्य कालेज लुधियाना, के प्रति उनकी कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझती हूँ। जिन्होंने मुझे समय-समय पर महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं।

मैं डॉ० अरविन्द पराशर प्राध्यापक एस. डी कालेज होशियारपुर की हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य में लगे रहने की प्रेरणा दी है। मैं नवनीत जी की आभारी हूँ जिन्होंने हमेशा इस शोध-कार्य में मेरी सहायता की है।

मैं गुरु नानक नैशनल पब्लिक स्कूल, माहिलपुर के प्रिंसिपल श्री वी० एन० शर्मा जी, को जहाँ कि मैं अध्यापन के तौर पर कार्य कर रही हूँ, अपनी विभिन्न समस्याओं को

लेकर, समय-असमय असंख्य कष्ट दिये हैं। उनकी उदारता ने मुझे सदैव प्रोत्साहन दिया है तथा समस्याओं के समाधान खोजने का मार्ग दिखाया है। विश्वास है कि सदैव उनका प्रोत्साहन यथावत् प्राप्त होता रहेगा।

मैं अपने माता-पिता और भाई-बहनों, भाभी जी, जीजा जी की आजीवन ऋणी हूँ जिन्होंने अनेक तरह के कष्ट सहकर मुझे इस योग्य बनाया। वे मेरी समूची शोध-साधना में निरन्तर प्रेरणा एवम् प्रोत्साहन के स्रोत रहे हैं, उन्होंने मुझे अनेक वार सहायता दी और साहस बंधाया।

शोध की इस लम्बी प्रक्रिया में जो सहयोग मुझे जितेन्द्र जी का मिला, उनका आभार व्यक्त किए बिना मैं अपने इस कार्य को अधूरा समझती हूँ। मैं अपने सहपाठियों वैशाली, रोजी, सतिन्द्र नागरा, मीनु, विकास, विनोद एवम् जोगेन्द्र की सदैव अभारी रहूँगी जिन्होंने समय-समय पर मेरी पूरी सहायता की और धैर्य बंधाया।

मैं उन लेखकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझती हूँ जिनकी पुस्तकों से सहायता सामग्री मुझे प्राप्त हुई है। यद्यपि शोध-प्रबन्ध की विविध अशुद्धियों को दूर करने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है तथापि दृष्टि ओझल अशुद्धियों के लिए क्षमा चाहती हूँ। शेष जो नाम जाने-अनजाने अलिखित रह गये उनके प्रति मैं मौन आभार व्यक्त करती हूँ। अन्त में इस शोध प्रबन्ध को टाइप करने में आने वाली अनेक कठिनाइयों के बावजूद मोनिका ने इसे जिस लगन एवम् मुस्कान के साथ टाइप किया, वह अव्याख्येय है।

**प्रवीता शर्मा**  
प्रवीता शर्मा

## विषय उपस्थापन

- .1 विषय कथन
- .2 सम्बद्ध साहित्य का सर्वेक्षण
- .3 विषय परिसीमन
- .4 अध्ययन का महत्त्व
- .5 अध्ययन का अनुक्रम

## 1.1 विषय कथन

भारतीय चिन्तन की सुदीर्घ परम्परा जो वेद से आरम्भ होकर अध्यावधि चिन्तन तक प्रसरित होती है उसमें भी समस्त ऋषियों की दृष्टि अथवा आर्ष चिन्तन मानव स्वातन्त्र्य का ही उद्घोष करता प्रतीत होता है। वैदिक सूक्तों से उपनिषदों की ज्ञानमार्गी चिन्तन पद्धति में भी मानव स्वातन्त्र्य की भावना किसी न किसी रूप से पुष्ट हुई है। पौराणिक काल भी मौलिक दृष्टिकोण में मानव स्वातन्त्र्य का पोषक था। यही स्वातन्त्र्य भावना परवर्ती महाकात्यात्मक युग में भी प्राप्त होती है। अतः सन्त साहित्य चिन्तन की इस सुदीर्घ परम्परा से जुड़ा होने के कारण मानव स्वातन्त्र्य की अवधारणा की अभिव्यक्ति करता है।

सन्त साहित्य की मूल चेतना सांस्कृतिक है। सांस्कृतिक धरातल पर भी विचारात्मक और मूल्यात्मक दोनों ही रूपों में परम्परा के अतिक्रमण और विकास की स्थिति दिखाई देती है। यह विकास अधिकतर मानवीय सम्बन्धों के रूप में मूर्त होता हुआ दिखाई देता है। इस चेतना के पीछे इतिहास बोध में उत्पन्न परिवर्तनों की भी विशेष भूमिका रही है। यह काल पूर्व सामन्तीय युग से उत्तर सामन्तीय युग के संगठन का काल है। मध्य-एशिया से जो अक्रान्तः चेतना की सम्भावना बढ़ जाती है। इसी प्रकार सामन्तीय युग में श्रम विभाजन और सम्राट की धारणा के साथ जुड़कर दार्शनिक धरातल पर ऐकेश्वरवाद की धारणा विश्व में सामने आती है। यही धारणा भारतीय सन्दर्भ में शून्यवाद और अन्त में मिथ्यावाद की धारणा से जुड़ जाती है।

सन्त साहित्य उस समाज-ऐतिहासिक आयाम में रूपाकार ग्रहण करता है जब एक ओर परम्परागत तथा वंशानुगत वर्णाश्रम व्यवसाय शिल्पगत व्यवस्था में क्रमानुक्रमी

अलग-थलग पड़ गया था दूसरी ओर विदेशी आक्रमण के कारण पुरोहिताई व्यवस्था में भी परिवर्तन दिखाई देने लगा था। इसकी परिणति सांस्कृतिक दृष्टि में कहीं परम्परा के प्रति विद्रोह के रूप में तथा कहीं कर्मकाण्ड और ब्राह्मणवाद के विरोध के रूप में होने लगी। यदि सामाजिक धरातल पर भी दृष्टिपात करें तब इस सन्दर्भ में भी विभाजन के आधार पर अप्रमाणिक होने के कारण नई प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की मांग उभर कर सामने आने लगी। असमानता, अन्याय और विभेद वाले सामाजिक सम्बन्धों के स्थान पर न्याय और समानता का स्वर खुलकर सामने आने लगा लेकिन यह धारणा निम्न को मुक्त करवाने में सफल न हो सकी जबकि इसके विपरीत सांस्कृतिक धरातल पर अत्यधिक कारगर सिद्ध हुई।

स्वातन्त्र्य शब्द विविध सन्दर्भों में विविध अर्थों का वाचक है तथा मानव स्वातन्त्र्य, मानव मुक्ति की धारणा से भी अवगत कराता है। वास्तव में मानव स्वातन्त्र्य की धारणा आधुनिक है। इस धारणा के परिप्रेक्ष्य में मध्यकालीन साहित्य का विवेचन करना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि इसमें आरोपण और सरलीकरण का खतरा उत्पन्न होता है। इस सब के बाबजूद सन्त साहित्य मानव स्वातन्त्र्य की दृष्टि से विवेचन और विश्लेषण की माँग करता है। सन्त साहित्य में सांस्कृतिक आवरण के पीछे मानव स्वातन्त्र्य की उद्भावना को देखा जा सकता है-

हम वासी उस देश के, जहाँ जाति, वर्ण कुल नाहिं।

शब्द मिलावा होई रहा, देह मिलावा नाहिं॥

सन्त साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य की इस अवधारणा के विकास में मानवाधिकार चेतना, मानवीय गरिमा की प्रतीष्ठा, रूढिबद्धता से मुक्ति, बौद्धिक एवम् तार्किक

निष्पत्तियों की स्वीकृति, निर्भीह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा, सामाजिक समानता एवम् व्यंग्य हेतु निर्भीक मनोगठन, वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या इत्यादि जैसे घटक तत्त्व आकार ग्रहण करते हैं। ये सभी घटक तत्त्व मानव स्वातन्त्र्य की अवधारणा को निरन्तर विकसित करते हैं। सन्तों ने मानव स्वातन्त्र्य के परिप्रेक्ष्य में जातीय, साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत बन्धन मुक्ति आदि सामाजिक जीवन के प्रमुख तत्त्वों के सामन्तीय रूपों के प्रति निषेधात्मक रूख अपनाया तथा इन सभी के यथार्थबोध के प्रति जन सामान्य को जागरूक कराने का उत्तरदायित्व संभाला।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सन्त साहित्य मानव स्वातन्त्र्य का पक्षधर है। अतः सन्त साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य अपनी विविधताओं सहित उपस्थित हुआ है। मानव को रूढ़िबद्धता, जातीय, साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत बन्धन से मुक्त कराने का सन्त कवियों ने भरसक प्रयास किया। सन्त साहित्य का मानव स्वातन्त्र्य की दृष्टि से अध्ययन (कबीर, गुरूनानक देव और रैदास का विशिष्ट सन्दर्भ) ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य प्रयोजन है।

## 2 सम्बद्ध साहित्य का सर्वेक्षण

### 2.1 डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य

किताब महल, प्रयाग : 1955

प्रस्तुत पुस्तक में सिद्ध-साहित्य की दार्शनिक तथा साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए उसके दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन, साधना पद्धति इत्यादि पक्षों का विवेचन किया गया है तथा बौद्धमत की महायान शाखा से स्वतन्त्र रूप से उदित सिद्ध परम्परा का सुव्यवस्थित रेखांकन हुआ है। जिसके माध्यम से मानव स्वातन्त्र्य के तत्कालीन रूप को स्पष्ट करने में सहायता मिलती है।

2.2 रामजी लाल सहायक : कबीर दर्शन

हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय,  
1962

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। कबीर के जीवन वृत्त सम्बन्धी तथ्यों का उल्लेख तथा कुछ नवीन तथ्यों का उद्घाटन भी किया गया है। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करना इस पुस्तक का विशिष्ट मन्तव्य है। इसमें कबीरदास के दार्शनिक विचारों की विवेचना भारतीय दर्शन शास्त्रों की मान्यताओं के अनुरूप की गई है।

2.3 त्रिलोकी नारायण दीक्षित : हिन्दी सन्त साहित्य

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1963

प्रस्तुत पुस्तक में सन्त कवियों के काव्यादर्श, सन्तकाव्य में अप्रस्तुत योजना, कल्पना तत्त्व का सुन्दर चित्रण किया गया है। इसलिए यह पुस्तक मानवतावादी दृष्टिकोण से मानव स्वातन्त्र्य को सन्त साहित्य में समझने के लिए सहायक सिद्ध हुई है।

2.4 श्याम सुन्दर शुक्ल : हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, दिल्ली,  
1963

प्रस्तुत पुस्तक में भक्ति के परम्परागत स्वरूप तथा उसके सम्प्रदायगत विकास को स्पष्ट करती है। संत साहित्य के समाज-ऐतिहासिक तथा समाज-सांस्कृतिक परिदृश्यों को स्पष्ट करते हुए लेखक ने सन्त काव्य में भक्ति के स्वरूप को निरूपित किया है। इसलिए यह पुस्तक हमारे अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है।



**2.5 ओमप्रकाश शर्मा** : सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि  
हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1965

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने सन्त काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए सन्तों का काल-क्रमिक परिचय दिया है तथा सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि के स्पष्टीकरण हेतु सन्तों की मानव-मुक्ति राजनीतिक चेतना, सामाजिक भावभूमि तथा तद्युगीन आर्थिक व्यवस्था का खुला विवरण दिया है। जो हमारे अध्ययन के लिए सहायक सिद्ध हुआ है।

**2.6 मनमोहन सहगल** : सन्त काव्य का दार्शनिक विश्लेषण  
भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़, 1965

प्रस्तुत पुस्तक सन्त काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि को व्याख्यायित करती हुई सिख मत के दार्शनिक सिद्धान्तों को निरूपित करती है। यह पुस्तक गुरूनानक देव की धर्म-दर्शन सम्बन्धी मान्यताओं को भी विवेचित करती है। सन्त वाणी का मानववाद पर आधारित अनुशीलन भी प्रस्तुत पुस्तक में हुआ है जो हमारे प्रस्तावित विषय से सम्बन्धित है।

**2.7 एस० राधा कृष्णन्** : भारतीय दर्शन  
अनु० नन्दकिशोर गोमिल विद्यालंकार,  
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1969

भारतीय दर्शन से सम्बद्ध पुस्तक ऋग्वेद से लेकर भगवद्गीता तक के भारतीय दर्शनों का वैचारिक एवम् सुव्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करती है। मुक्ति के आदिम तथा

दर्शनगत विकसित रूपों को तर्कपूर्ण व्याख्याओं में निबद्ध करके उपस्थापित किया गया है। मुक्ति, मोक्ष इत्यादि की दर्शनगत अवधारणाओं तथा व्याख्याओं को समझने में इस पुस्तक की विशेष उपादेयता सिद्ध हुई है।

**2.8 के. दामोदरन** : भारतीय चिन्तन परम्परा  
पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस,  
नयी दिल्ली, प्रा० लि०। तिथिहीन

इस पुस्तक में भारतीय चिन्तन के विकास में भौतिकवादी दर्शन के बहुमूल्य योगदान का पुनर्मूल्यांकन किया गया है तथा भारतीय-दर्शन परम्परा का सुबोध तथा व्यवस्थित पुनर्विवेचन किया गया है। विभिन्न भारतीय दर्शनों में मानव-मुक्ति की विविध मान्यताओं को संदर्भानुसार सामाजिक-ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचित किया गया है। इसलिए यह पुस्तक हमारे अध्ययन में सहायक सिद्ध हुई है।

**2.9 हजारी प्रसाद द्विवेदी** : कबीर ( कबीर के व्यक्तित्व, साहित्य  
और दार्शनिक विचारों की आलोचना )  
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1971

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने कबीर के व्यक्तित्व, साहित्य और दार्शनिक विचारों की आलोचना की है। इस पुस्तक के अन्त में (कबीर वाणी) नाम से कुछ चुने हुए पद्य संग्रह दिए गए हैं, जो हमारे अध्ययन के लिए सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

**2.10 परशुराम, चतुर्वेदी** : उत्तरी भारत की संत परम्परा  
भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस,  
इलाहाबाद, 1972

इस पुस्तक में लेखक ने भारतीय साधना की क्रमिक विकास यात्रा को स्पष्ट

करते हुए उत्तरी भारत के सभी सन्तों को संकलित किया है। सन्तों के जीवन परिचय एवम् उनकी वाणी को भी इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः यह पुस्तक सन्त कवियों के परिचय एवम् उनकी वाणी हेतु सहायक सिद्ध हुई है।

**2.11 राजदेव सिंह : सन्त साहित्य की भूमिका**

**आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1974**

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने सन्त-परम्परा, सन्तों की दार्शनिक विचारधारा, वर्णाश्रम व्यवस्था इत्यादि का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया है। सन्त साहित्य में दर्शनेतिहासिक तथा समाजैतिहासिक पक्षों का निरूपण प्रस्तुत पुस्तक में सफलता पूर्वक किया गया है।

**2.12 आर्याप्रसाद त्रिपाठी : कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन**

**सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974**

इस पुस्तक में लेखक ने संस्कृति को परिभाषित किया है तथा कबीर साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष का उद्घाटन किया है। कबीर की भक्ति भावना, धर्म साधना, दार्शनिक विचारधारा, सामाजिक, राजनीतिक विचारधारा इत्यादि विषयों को सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में देखने का प्रयास किया है। प्रस्तुत पुस्तक कबीर साहित्य के समाज सांस्कृतिक पक्ष को किसी न किसी सीमा तक स्पष्ट करती है। यह पुस्तक मानव स्वातन्त्र्य के समाज-सांस्कृतिक रूप को समझने में विशेषतया सहायक सिद्ध हुई है।

**2.13 वैजनाथ प्रसाद शुक्ल : कबीर एक नव्य बोध**

**साहित्य कुटीर, लखनऊ, 1975**

इस पुस्तक में कबीर साहित्य के विविध पक्षों जैसे- कबीर का दर्शन,

सामाजिक विचारधारा आदि का विवेचन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर किया गया है। यह पुस्तक कबीर साहित्य के समाज-ऐतिहासिक पक्ष को भी स्पष्ट करती है तथा कबीर साहित्य को मानव स्वातन्त्र्य की दृष्टि से समझने में सहायक सिद्ध हुई है।

**2.14 जयनाथ, नलिन** : साहित्य का आधार दर्शन  
आलोक प्रकाशन,  
भिवानी, हरियाणा, 1976

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने मानव को ही साहित्य का प्रयोजन माना है। मानव जगत के प्रत्येक पदार्थ से जुड़ा हुआ है। लेखक के अनुसार सामूहिक समग्रता ही मानव जीवन है। जब हम मानव-मूल्यों की बात करते हैं तब हम उसी समग्रता से स्थापित और क्रियाशील मानव की बात करते हैं। इसलिए यह पुस्तक हमारे अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है।

**2.15 राय, चन्द्रदेव** : कबीर और रैदास एक तुलनात्मक  
अध्ययन  
सौहार्द प्रकाशन, मुंशीपुरा,  
मऊनाथ मंजन, आजमगढ़, 1978

प्रस्तुत पुस्तक (शोध-प्रबन्ध) में कबीर और रैदास की काव्य धारा का विवेचन किया गया है। इन दोनों सन्तों की विचारधारा, साधना दृष्टि, काव्यादर्श एवम् रचना शिल्प में अभूत पूर्व साम्य को देखकर कबीर के सन्दर्भ में रैदास का समग्र तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध कबीर और रैदास के अध्ययन से सन्त काव्य की भावभूमि पर कतिपय नवीन रश्मियाँ छिटक कर हमारे अध्ययन को अभिनव दिशा बोध दे पाया है।

2.16 रामलाल वर्मा, : युग पुरूष कबीर  
रामचन्द्र वर्मा भारतीय ग्रन्थ निकेतन, दिल्ली, 1978

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने कबीर के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का मूल्यांकन ऐतिहासिक संदर्भानुसार किया है इसमें कबीर का रहस्यवाद, भक्ति भावना, खण्डनात्मकता, दार्शनिकता इत्यादि विशेषताओं को सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पर्यावलोकित किया गया है। इसलिए यह पुस्तक हमारे अध्ययन में उपयोगी सिद्ध हुई है।

2.17 मुक्तेश्वर तिवारी : मध्ययुगीन सूफी और सन्त साहित्य  
सरस्वती प्रकाशन मन्दिर,  
इलाहाबाद, 1980

इस पुस्तक में मध्ययुगीन हिन्दी के सूफी और सन्त साहित्य से सम्बन्धित पुरानी मान्यताओं एवम् उपलब्धियों का दिग्दर्शन कराते हुए, नवीन संभावनाओं की विवेचना की गई है। उसमें सूफी एवं संत कवियों का परिचयात्मक विवरण दिया गया है तथा इन सन्त कवियों की विशेषताओं का उल्लेख विस्तार से किया गया है। यह विवेचन हमारे अध्ययन में उपयोगी सिद्ध हुआ है।

2.18 परशुराम चतुर्वेदी : सन्त काव्य-धारा  
किताब महल, इलाहाबाद, 1981

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने आदि संत कवि जयदेव से लेकर रामतीर्थ तक की चर्चित रचनाएँ सम्मिलित की हैं। इन संत कवियों की वाणी को उनके मनोभावों के अनुसार प्रस्तुत किया है। संत कवि किस परिस्थिति में क्या और कैसे सोचते हैं तथा अपने भावों को अभिव्यक्त किस प्रकार करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसका मनोरम

वर्णन करती है। इसलिए यह पुस्तक हमारे अध्ययन में सहायक सिद्ध हुई है।

**2.19 परशुराम चतुर्वेदी** : कबीर साहित्य चिन्तामणि  
भारती भण्डार, लीडर प्रेस,  
इलाहाबाद, 1985

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने कबीर साहित्य का चिन्तन किया है। कबीर साहित्य के विभिन्न परिदृश्यों का आकलन करते हुए कबीर की भाव भक्ति, उपासना, नामतत्त्व, गुरुतत्त्व, प्रेम तत्त्व इत्यादि विशेषताओं का विवेचन किया है। यह पुस्तक कबीर साहित्य के आध्यात्मिक पक्ष को स्पष्ट करती है। कबीर साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य को आध्यात्मिक दृष्टि से समझने में यह पुस्तक सहायक सिद्ध हुई है।

**2.20 सुदेश भाटिया** : सन्त कवि नानक : एक अनुशीलन  
अनुपम प्रकाशन, पटना, 1989

प्रस्तुत पुस्तक में गुरुनानक देव जी की वाणी और उनके जीवनवृत्त पर प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक में लेखक ने समाजनीति, धर्मनीति और राजनीति पर भी प्रकाश डाला और टिप्पणी की है। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक समाजनीति और राजनीति की दृष्टि से मानव स्वातन्त्र्य को सन्त साहित्य में समझने में सहायक सिद्ध हुई है।

**2.22 लाल चन्द गुप्त मंगल** : अस्तित्ववाद और नई कहानी  
सूर्य प्रकाशन, नई सड़क,  
दिल्ली, तिथिहीन

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने अस्तित्ववाद चिन्तन में मानवीय स्वतन्त्रता का स्थान निर्धारित किया है। इस पुस्तक में सार्त्र ने मानव स्वातन्त्र्य का अध्ययन तीन विभिन्न

दृष्टिकोणों से किया है- 1. वैयक्तिकता के सन्दर्भ में, 2. व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में और विभिन्न परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया है। जो कि मानव स्वातन्त्र्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझने में सहायक सिद्ध हुई है।

**2.23 परशुराम चतुर्वेदी : कबीर साहित्य की परख**  
**भारती भण्डार, प्रयाग,**  
**सम्बत 2011**

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने कबीर साहित्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला है। हमारे प्रस्तावित विषय की रूपरेखा के सन्दर्भ में साधना, समन्वयवाद तथा रहस्यवाद सम्बन्धी विवेचन का विशेष महत्त्व है। कबीर साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य के विविध पक्षों के उद्घाटन की संभावनाओं पर यह विवेचन विशेष प्रकाश डालने में सहायक सिद्ध हुआ है।

**2.24 वेणी प्रसाद शर्मा : सन्त गुरू रविदास-वाणी**  
**सूर्य प्रकाशन, नई सड़क, 2035 सम्बत्**

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने गुरू रविदास के जीवन वृत्त, उपलब्ध सामग्री एवम् पाण्डुलिपियों का विवरण, रविदास वाणी आदि संकलित की है। इस पुस्तक में मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन एवम् सन्त साहित्य पर नवीन विचारधारा से प्रकाश डाला है। इसलिए यह पुस्तक हमारे अध्ययन के लिए सहायक सिद्ध हुई है।

### 3 विषय परिसीमन

सन्त साहित्य की विराटता के कारण शोध-परक सुविधा नहीं रह पाती। इसलिए मैंने प्रमुख संतों को ही अपनी विवेचना का आधार बनाया है जिनमें कबीर, गुरुनानक देव और रैदास परिगणित किए हैं।

शोध की मर्यादाओं के कारण इन तीनों संतों का साहित्य विराट अध्ययन की प्रतीक्षा कर रहा है क्योंकि मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में न तो कबीर का अध्ययन हुआ है, न ही गुरुनानक देव का तथा न ही रैदास पर शोध कार्य हुआ है। यद्यपि सम्बद्ध साहित्य के सर्वेक्षणोपरान्त अब शोध प्रबन्ध की दिशा निर्धारण हेतु विषय परिसीमन भी अनिवार्य है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सन्त-साहित्य के अध्ययनार्थ मानव स्वातन्त्र्य की दृष्टि से तीन आधार स्थापित किए गए हैं।

1. मानव स्वातन्त्र्य का विचारधारात्मक संघटन
2. मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयाम
3. मानव स्वातन्त्र्य के घटक तत्त्व

इन्हीं तीन आधारों पर हमने अपने विवेच्य संत कवियों कबीर, गुरुनानक देव और रैदास के साहित्य में उपलब्ध मानव स्वातन्त्र्य का स्वरूप निर्धारित किया है और उनके साहित्य को विवेचित एवम् विश्लेषित करने की भरसक चेष्टा की है।

### 4 अध्ययन का महत्त्व

सम्बद्ध साहित्य के पर्याबलोकन के बाद यह कहा जा सकता है कि इस पर पर्याप्त विवेचन एवम् शोध कार्य हो चुका है तथापि मानव स्वातन्त्र्य की दृष्टि से सन्त साहित्य पर व्यवस्थित विवेचन अध्यावधि नहीं हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है



कि सर्वेक्षित साहित्य में से कोई भी ग्रन्थ हमारे अध्ययन का आधार बन जाने में असमर्थ है तथापि मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयामों एवम् घटक तत्त्वों को समझने में इन ग्रन्थों की उपादेयता अनिवार्य है। इस प्रकार मानव स्वातन्त्र्य की दृष्टि से सन्त साहित्य का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कहा जा सकता है।

### .5 अध्ययन का अनुक्रम

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को चार भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग- भूमिका, द्वितीय भाग विवेचन, तृतीय भाग- उपसंहार और चतुर्थ भाग परिशिष्ट से सम्बन्धित है। इन चार भागों को तीन अध्यायों में विभाजित किया है। जिनका अनुक्रम इस प्रकार है-

### प्रथम भाग

#### भूमिका

#### विषय उपस्थापन

भूमिका विषय-उपस्थापन से सम्बन्धित है। जिसमें विषय कथन, सम्बद्ध साहित्य का सर्वेक्षण, विषय परिसीमन, अध्ययन के महत्त्व के साथ-साथ उसके अनुक्रम को उल्लिखित किया है। विषय कथन विषय का स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर रहा है। तदोपरांत सम्बद्ध साहित्य के सर्वेक्षणोपरांत विषय की सीमा निश्चित करते हुए अध्ययन के महत्त्व और सामग्री स्रोतों को अंकित किया गया है।

### प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय में मानव स्वातन्त्र्य का विचारधारात्मक संघठन और आयामों

को व्याख्यायित किया है। मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयामों को समाज-ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक सन्दर्भों में स्पष्ट किया है। तदोपरांत इन तीन आयामों को सन्त साहित्य के सन्दर्भ में विश्लेषित किया गया है।

## द्वितीय अध्याय

प्रस्तुत अध्याय में मानव स्वातन्त्र्य के घटक तत्त्वों को व्याख्यायित किया है।

### द्वितीय भाग

## तृतीय अध्याय

प्रस्तुत अध्याय मानव स्वातन्त्र्य एवम् संत-साहित्य के घटक तत्त्वों पर आधारित है। घटक तत्त्वों- मानवाधिकार चेतना, मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा, रूढ़िबद्धता से मुक्ति, बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति, निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा, सामाजिक समानता एवम् व्यंग्य हेतु निर्भीक मनोगठन, वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या, जातीय साम्प्रदायिक एवम् वर्गगम बन्धन मुक्ति आदि। इन्हीं घटक तत्त्वों को सन्त साहित्य में कबीर, गुरूनानक देव और रैदास के विशिष्ट सन्दर्भ में व्याख्यायित किया है।

### तृतीय भाग

#### समाहार

#### उपसंहार

प्रस्तुत अध्याय उपसंहार से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत निर्णय एवम्

उपलब्धियाँ भी सांकेतिक की गई हैं।

### चतुर्थ भाग

#### परिशिष्ट

प्रस्तुत भाग परिशिष्ट से सम्बन्धित है। इसमें समग्र अध्ययन की सामग्री को वैज्ञानिक पद्धति से सूची बद्ध किया है।

प्रथम अध्याय : मानव स्वातन्त्र्य का  
विचारधारात्मक संघठन,  
आयाम एवम् घटक तत्त्व

1.1 मानव स्वातन्त्र्य का विचारधारात्मक संघठन

1.1.1 मध्यकालीन

1.1.1.1 पूर्वमध्यकाल

1.1.1.1.1 बौद्ध दर्शन

1.1.1.1.2 जैन दर्शन

1.1.1.1.3 अद्वैत दर्शन

1.1.1.2 उत्तरमध्यकाल

1.1.1.2.1 नाथ सम्प्रदाय

1.1.1.2.2 सिद्ध सम्प्रदाय

1.1.1.2.3 तंत्र

1.1.1.2.4 कापालिक

1.1.1.2.5 शाक्त साहित्य

1.1.1.2.6 भक्तिकाल के

विभिन्न दार्शनिक मत

1.1.2 आधुनिक

1.1.2.1 अस्तित्ववादी

1.1.2.2 मार्क्सवादी

1.1.2.3 आधुनिकतावादी

1.2 मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयाम

1.2.1 समाज-ऐतिहासिक

1.2.1.1 आदिम समाज व्यवस्था

और मानव स्वातन्त्र्य

1.2.1.2 सामन्तवादी समाज व्यवस्था

और मानव स्वातन्त्र्य

- 1.2.1.3 पूंजीवादी समाज व्यवस्था  
और मानव स्वातन्त्र्य
- 1.2.1.4 समाजवादी समाज व्यवस्था  
और मानव स्वातन्त्र्य
- 1.2.2 समाज-सांस्कृतिक
  - 1.2.2.1 पूर्ववैदिक संस्कृति
  - 1.2.2.2 वैदिक संस्कृति
  - 1.2.2.3 औपनिषदिक संस्कृति
  - 1.2.2.4 भ्रमण संस्कृति
  - 1.2.2.5 पौराणिक संस्कृति
- 1.2.3 दार्शनिक
  - 1.2.3.1 वैदिक दर्शन
  - 1.2.3.2 औपनिषदिक दर्शन
  - 1.2.3.3 चार्वाक दर्शन
  - 1.2.3.4 षड्दर्शन
  - 1.2.3.5 बौद्ध दर्शन
  - 1.2.3.6 जैन दर्शन
  - 1.2.3.7 अद्वैत-वेदान्त
  - 1.2.3.8 नाथ सम्प्रदाय
  - 1.2.3.9 सिद्ध मत
  - 1.2.3.10 कापालिक
  - 1.2.3.11 शाक्त दर्शन

### 4.3 सन्त साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयाम

### 1.1 मानव स्वातन्त्र्य का विचारधारात्मक संघटन

मानव स्वातन्त्र्य, मानव से सम्बद्ध होते हुए भी एक सामाजिक पहलु है। स्वतन्त्रता ऐसा मूल्य है जो वैयक्तिक होते हुए भी व्यापक समाज को समर्पित है।

अष्टावक्रगीता में व्यक्ति के संदर्भ में स्वतन्त्रता को व्याख्यायित इस प्रकार किया है, व्यक्ति स्वतन्त्रता से सुख प्राप्त करता है, स्वतन्त्रता से परम तत्त्व को प्राप्त करता है, स्वतन्त्रता से परम तत्त्व को प्राप्त करता है, स्वतन्त्रता से निवृत्ति अर्थात् शान्ति को प्राप्त करता है। स्वतन्त्रता से परम पद को प्राप्त करता है।

स्वातन्त्र्यात् सुख्याम्नोति स्वातन्त्र्याललभते परम्।

स्वातन्त्रानिवृत्तिगच्छेत स्वातन्त्र्यात् परमं पदम् ॥

--- अष्टावक्र गीता -- 18/50

सार्त्र के अनुसार- “स्वतन्त्रता सब मूल्यों की जननी है। मनुष्य वह वस्तु है, जिसके भीतर से सब मूल्य उदित होते हैं, इसलिए मनुष्य कभी न चाहेगा कि वह मूल्य निर्माण की अपनी स्वतन्त्रता खो दे।”<sup>1</sup> अर्थात् मानव ही मूल्यों का नियन्ता है। सैमुएल समाइलस अपनी पुस्तक कर्तव्य में, स्वतन्त्रता की आधारशिला, कर्तव्य को मानते हुए लिखते हैं, “मनुष्य को सोचने, कार्य करने और अपना चरित्र बनाने की स्वतन्त्रता मिलना अनिवार्य है परन्तु उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।”<sup>2</sup> श्री डूपन लूप का कहना है, “मैं किसी युवक की अपेक्षा किसी बालक की स्वतन्त्रता

---

1. राजकमल व्होरा ‘हिन्दी उपन्यास’ प्रयोग के चरण पृ० 46.

2. सैमुएल समाइलस कर्तव्य पृ० 4

का अधिक सम्मान करूँगा, क्योंकि युवक तो अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा स्वयं कर सकता है, जबकि बालक नहीं कर सकता। बालक की स्वतन्त्रता का अर्थ आज्ञाकारिता, आत्मसंयम और आत्मशासन है।<sup>3</sup>

मानव को स्वातन्त्र्य केवल देह के धरातल पर ही नहीं बल्कि मन एवं बुद्धि के धरातल पर भी मिलना चाहिए। देह, मन एवं बुद्धि की स्वतन्त्रता से मानव ही नहीं, समाज ही नहीं बल्कि राष्ट्र का निर्माण होगा।

मानव स्वातन्त्र्य के विचारधारात्मक संघटन को समझने के लिए मानव परतन्त्र्य को जानना जरूरी है। वरन् मानव अपने उद्भवकाल में ही स्वतन्त्र था। वह परतन्त्र कैसे बना ? यह मानव की विकासमान चेतना के व्यक्ति उन्मुक्तता से समाजाश्रित होने की प्रक्रिया से जुड़ने के कारण हुआ।

ज्यों-ज्यों मानव बुद्धि विकसित हुई और उसने ज्ञानोदय के कारण नित्य-नए अन्वेषणों के बल पर सुविधोन्मुखी जीवन व्यतीत करना शुरू किया। त्यों-त्यों मानव पराश्रित होकर परतन्त्रता का वरण करता गया। मानव स्वातन्त्र्य का उद्भव बिन्दु वह क्षण कहा जा सकता है जब से मानव ने स्वयं को असहाय व अकेला अनुभव किया।

मानव स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध व्यक्तिवाद से है। “राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में, व्यक्तिवाद, व्यक्ति की स्वतन्त्रता, गरिमा तथा हितों का हामी एक ऐसा दृष्टिकोण

---

3. सैमुएल समाइल्स कर्त्तव्य पृ० 16

है जो उन्हीं के आधार पर न्याय, राजनीतिक दायित्वों तथा जनहितों की पुष्टि की विवेचना करता है।<sup>14</sup> यद्यपि व्यक्तिवाद हस्तक्षेप को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक मानता है तथापि यह दृष्टिकोण आर्थिक दृष्टि इतिहास के समक्ष झूठा सिद्ध हुआ है। “पूँजीवादी के चरमोत्कर्ष के दिनों में जो व्यापक आर्थिक विषमता अस्तित्व में आई उसने यह सिद्ध कर दिया कि अहस्तक्षेप की नीति के रहते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्रता निरर्थक हो जाती है।”<sup>15</sup>

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक प्रभृति विद्वानों ने जिजीविषा के उपरान्त मानव की स्वतन्त्रता भावना को स्पृहा माना है। उनका मानना है कि “मानव की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्वातन्त्र्य की भावना है। स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख रहना उसके लिए सहज और स्वाभाविक जीवन प्रक्रिया का अंग बन गया है।”<sup>16</sup>

मध्यकालीन सन्त साहित्य में अन्धविश्वासों व रूढ़ियों पर प्रहार खंडन-मंडन की प्रवृत्ति में हुआ है और मानव की स्वतन्त्रता का मार्ग आध्यात्मिक पथ पर चलने के रूप में ढूढ़ा गया है। इसी सन्दर्भ में मध्यकालीन सन्त-साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य को देखा जाना परमावश्यक है।

### 1.1.1 मध्यकालीन

मध्यकालीन से ध्वनित होता है- मध्यकाल का अर्थात् वह घटना या प्रवृत्ति जिसकी जड़े व अस्तित्व मध्यकाल में निहित है। विश्व के इतिहास का मध्यकाल।

4. हरि कृष्ण रावत, समाज शास्त्र कोश पृ० 77

5. ओम प्रकाश गाबा, राजनीति विज्ञान कोश पृ० 142

6. सं० कन्हैया लाल नन्दन, गंगनाम्बल, त्रैमासिक पत्रिका 19 अंक वर्ष, 1 जनवरी, मार्च, 1966



सातवीं-आठवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। भारतीय इतिहास में भी मध्ययुगीन प्रवृत्तियाँ वर्धन-साम्राज्य के पतन के बाद इसी काल में प्रारम्भ हो जाती हैं। सातवीं शताब्दी से विश्व इतिहास में सत्रहवीं के अन्त, किंतु भारत में उन्नीसवीं के मध्य तक बारह सौ वर्षों का काल विस्तार मध्यकाल या मध्ययुग की संज्ञा पाता है। इस युग के पुनः दो भाग किये जाते हैं- पूर्व मध्ययुग और उत्तर-मध्ययुग। पूर्व मध्ययुग बारहवीं शताब्दी के अन्त तक तथा उत्तर मध्ययुग तेरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक चलता है।<sup>7</sup> हिन्दी साहित्य में काल विभाजन की दृष्टि से मध्यकाल थोड़ा भिन्न है। “साधारणतः चौदहवीं-पन्द्रवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक का काल हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाता है।”<sup>8</sup> इस दृष्टि से मध्यकालीन युग लगभग पाँच सौ वर्षों का कालखण्ड है।

मध्यकालीन को भी पूर्व मध्यकालीन और उत्तर मध्यकालीन युग में विभाजित किया जा सकता है। पूर्व मध्यकालीन भक्तिकालीन से सम्बन्धित है और उत्तर मध्यकालीन रीतिकाल से। इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध कार्य का सम्बन्ध भक्तिकाल अर्थात् पूर्व मध्यकाल में विकसित होने वाले सन्त साहित्य से है।

### 1.1.1 पूर्व मध्यकाल

इस काल के अन्तर्गत हमने बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन और अद्वैत-वेदान्त के सन्दर्भ में मानव-स्वातन्त्र्य की उद्भावना पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

---

7. सं० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1 पृ० 609

8. सं० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1 पृ० 609

### 1.1.1.1.1 बौद्ध दर्शन

बौद्ध धर्म (ईसा पूर्व छठी शताब्दी) का उदय उस समय हुआ जब दास-प्रथा वाले बड़े-बड़े साम्राज्यों का निर्माण एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया था और पुरोहितवर्ग का बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक आधिपत्य समाज के विकास में रूकावटें खड़ी करने लगा था।<sup>9</sup> समाज-ऐतिहासिक आधार पर बौद्ध दर्शन ने पुरोहितवाद का खण्डन करके मानव स्वातन्त्र्य को स्वीकार किया। अगर सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि से बौद्ध दर्शन पर दृष्टिपात करें तो बौद्ध दर्शन ने समाज के निम्न वर्गों को अपनाया पशु हिंसा, यज्ञ तथा बाह्याडम्बरों का डटकर विरोध किया दार्शनिक दृष्टि से बुद्ध ने “मानव जीवन को दुःखपूर्ण माना है।”<sup>10</sup> उन्होंने इस दुःख से निवृत्ति के लिए आर्य अष्टांग मार्ग<sup>11</sup> को माना है, यही निर्वाण प्राप्ति का साधन बुद्ध ने स्वीकार किया है। अगर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो सन्तों ने मानव की मुक्ति की अवधारणा को ही मानव स्वातन्त्र्य माना है। मानवीय करुणा पर आधारित बौद्ध धर्म पूर्ण रूप से मानवीय धर्म के रूप में प्रकट हुआ। प्राणिमात्र की समता पर आधारित इस धर्म में जातिभेद अथवा वर्ग-भेद के लिए कोई स्थान नहीं था। जनमान्य की स्वातन्त्रता की चिन्ता से प्रेरित होने तथा धार्मिक रुढ़ियों तथा आडम्बरों पर प्रहार करने के कारण यह लोग धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

### 1.1.1.1.2 जैन दर्शन

जैन दर्शन भी मानव जीवन को दुःख पूर्ण मानता है। वह कहता है कि निर्वाण

---

9. के दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 191

10. के दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 118

11. एस राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन पृ० 298

का मार्ग त्रिरत्नों अर्थात् भगवान् जिन में आस्था रखने उनके सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने और निर्दोष आचरण में से होकर जाता है।<sup>12</sup> इस प्रकार जैन दर्शन भी दुःख से निवृत्ति अवगत कराता हुआ मानव स्वातन्त्र्य को स्वीकार करता है क्योंकि जैन धर्म का उदय भी उन्हीं आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों से हुआ था जिन्होंने बौद्ध धर्म को जन्म दिया था। सामाजिक, ऐतिहासिक आधार पर जैन धर्म भी रूढ़िवादी ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध था तथा पुरोहितवाद शोषण से मुक्त होने का मानव का एक ओर प्रयास था। सामाजिक-सांस्कृतिक आधार पर कर्म, कर्मफल मुक्ति के लिए सत्य, अहिंसा तथा अपरिग्रह ब्रह्मचर्य जैसे नियमों की स्थापना की गई। सामन्ती सामाजिक संरचनाओं तथा रक्तरंजित राजनीति की प्रतिक्रिया बौद्ध तथा जैन दर्शनों में दिखाई देती है। जहाँ निवृत्ति के माध्यम से सब दुविधाओं से निर्वाण प्राप्ति की अवधारणा को स्थापित किया गया वही वैदिक कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद तथा अन्धविश्वासों का खण्डन इन दर्शनों की सांस्कृतिक मान्यताएँ थी जो कि मानव स्वातन्त्र्य का संस्पर्श करती हुई सन्त साहित्य में उपस्थित हुई थी। इसी प्रकार वर्णाश्रम विरोधी साधना-पद्धति का दूसरा रूप जैन-चिन्तन से मिलता है। इसकी चिन्ता भी मानव मात्र की स्वतन्त्रता थी।

#### 1.1.1.1.3 अद्वैत-वेदान्त

आठवीं शताब्दी शंकर के अद्वैत-वेदान्त का काल माना जाता है। समाज-व्यवस्था की दृष्टि से यह सामन्तीय व्यवस्था का काल था। सामाजिक, ऐतिहासिक

---

12. के दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 134

आधार पर यह दर्शन बौद्ध दर्शन के प्रति विद्रोह था। शंकर ने सभी नास्तिक मतों का सवल युक्तियों द्वारा खण्डन किया तथा हिन्दु धर्म को पुनर्जीवित किया। इस आधार पर अगर देखा जाए तो यह दर्शन मानव को नास्तिक दर्शनों के प्रभाव से स्वतन्त्र होने का उपदेश देता है। “सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर पर शंकर ने जाति व्यवस्था में उच्च वर्णों, के हितों की रक्षा की।”<sup>13</sup> इस प्रकार अगर देखा जाए तो मानव स्वातन्त्र्य का स्वरूप अपनी नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप दार्शनिक परिणतियों में विकसित हो जाता है।

#### 1.1.1.2 उत्तर मध्यकाल

इस काल के अन्तर्गत हमने नाथ-सम्प्रदाय, सिद्ध सम्प्रदाय, तंत्र, कापालिक, शाक्त साहित्य और भक्तिकाल के विभिन्न दार्शनिक मतों के सन्दर्भ में मानव स्वातन्त्र्य को किसी न किसी रूप में प्रकाश डालने का भरसक प्रयास किया है।

##### 1.1.1.2.1 नाथ-सम्प्रदाय

नाथ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथ माने जाते हैं। “जिनका वर्तमान काल दसवीं शताब्दी माना जाता है।”<sup>14</sup> सामाजिक, ऐतिहासिक आधार पर यह काल भारतीय धर्म साधना में उथल-पुथल का काल है। दसवीं शताब्दी में यद्यपि ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और इनमें अतिरिक्त एक बड़ा भारी सम्प्रदाय ऐसा भी था जो ब्राह्मण और भेद के प्राधान्य

13. के दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 134

14. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ, सम्प्रदाय पृ० 9

को नहीं मानता था।<sup>15</sup>

सामाजिक, ऐतिहासिक आधार पर अगर देखा जाए तो यह कर्मकाण्डों से मानव की स्वतन्त्रता थी। अतः सामाजिक, सांस्कृतिक आधार पर नाथ सम्प्रदाय ने वर्ण-व्यवस्था जाति-पाति का विरोध किया तथा मानव को स्वातन्त्र्य का पथ दर्शाने का प्रयास किया।

#### 4.1.1.2.2 सिद्ध सम्प्रदाय

सिद्धों ने आध्यात्मिक मुक्ति के माध्यम से मानव स्वातन्त्र्य की तलाश की। सामाजिक, ऐतिहासिक आधार पर “सिद्धों का उद्देश्य था बौद्धों के निवृत्तिमूलक दुःखवादी रूप का निराकरण कर सुख अथवा आनन्द भावना आदि की प्रतिष्ठा करना।”<sup>16</sup> सिद्धों के जीवन के सहज रूप की स्वीकृति में मानव स्वातन्त्र्य को दर्शाया। सामाजिक, सांस्कृतिक मान्यताएँ जैसे जाति-पाति, छुआ-छूत, वर्ण-व्यवस्था आदि वेद तथा वैदिक कर्मकाण्डों के प्रति सिद्धों ने खुला विद्रोह किया तथा मानव को इन सबसे स्वतन्त्र होने का आग्रह किया।

#### 4.1.1.2.3 तंत्र

तंत्रकाल तीसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का काल माना जाता है। सामाजिक सांस्कृतिक की दृष्टि से तंत्रों में मानव स्वातन्त्र्य के रूप वर्ण-व्यवस्था, जाति व्यवस्था के विरोध के रूप में प्रकट हो रहे थे।<sup>17</sup> भक्ति तंत्र “चक्र पूजा में वर्ण

15. हजारि प्रसाद द्विवेदी, नाथ सिद्धों की वानियाँ पृ० 11

16. धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य पृ० 132

17. के दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 288

एवम् जाति का भेद नहीं था।<sup>18</sup> दार्शनिक सन्दर्भ में तन्त्रों में मुक्ति एवम् भक्ति दोनों की प्राप्ति का प्रयत्न रहा है। इसके साथ उसने जीवन का एकांगी दृष्टिकोण नहीं रखा, जीवन की समग्रता का पक्ष ग्रहण किया। इसने आध्यात्मिक विकास की पूर्णता के लिए नर एवम् नारी के सामंजस्य को प्रधान माना।<sup>19</sup>

#### 1.1.1.2 कापालिक

शैव मत की एक शाखा कापालिक भी है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में कापालिकों का वर्णन मिलता है।<sup>20</sup> मानव स्वातन्त्र्य के समाज सांस्कृतिक पक्षों में से साधक जाति-पाति का बन्धन नहीं मानते थे। इसलिए यह पद्धति वेदवाह्य घोषित कर दी गई। दार्शनिक आधार पर इन साधकों ने गुह्य तान्त्रिक साधुओं के माध्यम से आध्यात्मिक मुक्ति द्वारा स्वातन्त्र्य पथ के अन्वेषण का प्रयास किया।

#### 1.1.1.2.5 शाक्त साहित्य

भारत में देवी माता की पूजा प्रगैतिहासिक काल से जारी है। समाज ऐतिहासिक आधार पर शाक्त साधना सामन्ती समाज व्यवस्था की उपज थी। प्राचीन मातृसत्तात्मक प्रणाली की देवी माता को अब एक सम्मानपूर्ण विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ और वह शिव की प्रियतमा मानी जाने लगी।<sup>21</sup> इस आधार पर नारी की स्थिति सबल हुई। समाज सांस्कृतिक आधार पर शाक्त दर्शन ने मानव की स्वतन्त्रता को देखते हुए समाज

---

18. सुरेन्द्र मोहन प्रसाद, शाक्त दर्शन और हिन्दी के वैष्णव कवि पृ० 31

19. सुरेन्द्र मोहन प्रसाद, शाक्त दर्शन और हिन्दी के वैष्णव कवि पृ० 22

20. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ, सम्प्रदाय पृ० 82

21. के दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 289

में व्याप्त जाति-पाति आदि के बन्धनों को तोड़ा। अतः छूआछूत, स्थूल नैतिकता, वर्ण व्यवस्था, दार्शनिक आधार पर 'शाक्ताचार्यों' के अनुसार विश्वसृष्टि तथा व्यक्तिगत देह की सृष्टि के मूल में एक ही व्यापार है। अगर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो इस व्यापार को समझ लेने में ही मानव स्वातन्त्र्य निहित है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि भक्तिकाल को सुदृढ़ पृष्ठभूमि प्रदान करने में भक्तिकाल के आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनमें रामानुजाचार्य (ग्यारहवीं शती) निम्बकाचार्य (ग्यारहवीं शती) मध्वाचार्य (तेरहवीं शती) तथा पन्द्रहवीं शती में उत्पन्न बल्लभाचार्य के नाम प्रमुख हैं यह काल सामन्तवादी व्यवस्था का काल था उस काल में मुसलमानों के बार-बार आक्रमणों के कारण देश में अव्यवस्था फैल रही थी। इसी तरह भक्ति आन्दोलन भी उस समय आरम्भ हुआ, जब हिन्दू और मुसलमान पुरोहितों और उनके द्वारा समर्थित और समृद्ध किए गए निहित स्वार्थों के खिलाफ संघर्ष तद्युगीन समाज की एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी।<sup>22</sup> सामाजिक सांस्कृतिक आधार पर अगर देखा जाए तो इन आचार्यों ने बाह्याडम्बरों, रूढ़ियों, जाति-पाति, वर्ण व्यवस्था कुप्रथाओं से मानव को स्वतन्त्र करने का सफल प्रयास किया।

अतः हम कह सकते हैं कि मध्यकालीन संत-साहित्य में मानव-स्वातन्त्र्य का मार्ग आध्यात्मिक पथ पर चलने के रूप में ढूंढा जा सकता है और इसी सन्दर्भ में ही मध्यकाल में मानव स्वातन्त्र्य को देखा जाना चाहिए क्योंकि मानव स्वातन्त्र्य वैदिककाल से लेकर मध्यकाल तक विभिन्न समाज ऐतिहासिक परिस्थितियों के साथ

---

22. के दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 328

निरन्तर विकसित होता गया है। वैदिककाल से लेकर मध्यकालीन भक्तिकाल तक मानव स्वातन्त्र्य का यह विकास क्रम आध्यात्मिक दृष्टि द्वारा स्पष्टतः दिखाई देता है। सन्त साहित्य में आकर मानव स्वातन्त्र्य की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन पूर्ण रूप से मानवतावादी दर्शन है। इसके चिन्तन का केन्द्रीय तत्त्व मानव के कष्टों के प्रति करुणा भाव है। यहाँ मानव को उसकी पूर्ण गरिमा एवम् विकास की संभावनाओं के बीच देखा गया है अपने आचरणों से मानव स्वयं परमात्मा बन सकता है। अपनी स्वतन्त्रता के लिए मानव को बिना किसी बाह्य शक्ति का सहारा लिए स्वतन्त्रता का प्रयास स्वयं करना होगा।

### 1.1.2 आधुनिक

आधुनिक युग में अस्तित्ववादी, मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणवादी विचारधाराओं ने बौद्धिक व्यक्ति के विचारधारात्मक संघटन को अत्यधिक प्रभावित किया है। आधुनिक जीवन दर्शन का प्रमुख आयाम है- मानव स्वातन्त्र्य। आधुनिक जीवन दृष्टि ने ही मनुष्य को अपने (स्व) के प्रति जागरूक और सजग बनाया। मध्यकाल में इस वैयक्तिक सजगता का नितान्त अभाव है। मध्यकालीन बौद्ध धर्म दर्शन और अध्यात्म पर निर्भर था। यही कारण है कि उस काल का मनुष्य अथवा प्रजाजन नियतिवादी ओर भाग्यवादी है। वह केवल प्रभु, राजा या कोई दूसरी अदृश्य सत्ता में विश्वास करता था। ऐसी अवस्था में वैयक्तिक चेतना का उदय सम्भव नहीं था। उनकी अपनी स्थिति मात्र उनकी नियति है तथा उसे परिवर्तन का रूप देने की सामर्थ्य केवल अव्यक्त सत्ता में है। अपने (स्व) की महत्ता के प्रति सामुहिक रूप से अज्ञान मध्यकालीन जीवन विधि और मध्यकालीन मूल्य विधि का एक प्रमुख गुण



है। “उस काल की सामाजिक सजगता में यदि आत्म सम्मान वृद्धि, विद्रोह आदि का कोई प्रसंग जन्म भी लेता तो उसकी मूल संगति का पक्ष धर्म, अध्यात्म या प्रभु से जोड़कर उसे भी एक धार्मिक कृत्य निर्धारित करने की प्रवृत्ति वहाँ है।”<sup>23</sup> इसी विद्रोह ने आधुनिक समय में वैयक्तिक चेतना को उद्भूत किया। जनता में पनपी विद्रोह की इस चिंगारी ने मानव को उसकी स्वतन्त्रता का महत्त्व समझाया। मानव स्वातन्त्र्य की खोज तथा सामाजिक सजगता की चेतना आधुनिक जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। “आधुनिक समय में जिस सामाजिक सजगता का विकास हुआ है, जो अपने साथ विचारधाराओं, मनुष्य की नियति को बदलने के लिए वैचारिक सन्दर्भों और भावात्मक विकल्पों को लेकर आई है उस सजगता ने पहली बार मानव की चेतना में स्वतन्त्रता का एक दूसरा ही सार्थक बिन्दू स्थापित किया है। चेतना के इस पक्ष ने मानव इतिहास को एक नई धारा की ओर उन्मुख किया है।”<sup>24</sup> यह सही है कि स्वतन्त्रता आधुनिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। मध्यकाल में भी स्वतन्त्रता की ऐसी ही भावना विद्यमान थी लेकिन वह प्रकृति में एक पक्षीय है। “आधुनिक युग के नए परिदृश्य में स्वतन्त्रता का एक भिन्न दर्शन पनपा है। यह स्वतन्त्रता तब तक अर्थवान नहीं है जब तक परतन्त्र होने की भावना एवम् स्वतन्त्रहीन परतंत्र से मुक्ति नहीं पाई जाए।”<sup>25</sup> परतन्त्र मानसिकता से मुक्ति बिना विद्रोह के नहीं पाई जा सकती जब तक विद्रोह व्यक्तित्व का अंग नहीं बनती तब तक स्वातन्त्र्य चेतना

---

23. गंगा प्रसाद विमल, आधुनिकता साहित्य के सन्दर्भ में, पृ० 14

24. गंगा प्रसाद विमल, आधुनिकता साहित्य के सन्दर्भ में, पृ० 14

25. गंगा प्रसाद विमल, आधुनिकता साहित्य के सन्दर्भ में, पृ० 14

का कोई अर्थ नहीं है। अतः मनुष्य के विकास के लिए स्वातन्त्र्य चेतना का होना अति आवश्यक है।

मानव स्वातन्त्र्य के अनेक पक्ष हैं। मनुष्य सामाजिक इकाई होने के कारण स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए क्रियाशील रहता है। यह क्रियाशीलता उसके विवेकशील धरातल पर सोचने की क्षमता, जागरूकता सजगता से निर्मित होती है अतः इन सबको गतिशील रखने वाली केन्द्रीय प्रवृत्ति विद्रोह ही हो सकती है।

आज मानव की सबसे प्रमुख चिन्ता है- स्वतन्त्रता की रक्षा। मानव स्वातन्त्र्य को सबसे बड़ा खतरा व्यवस्था से होता है। व्यवस्था की यह प्रकृति है कि वह स्वातन्त्र्य का पहले तो नारा लगाती है लेकिन अन्ततः उसका हनन करना ही उसका लक्ष्य होता है, क्योंकि व्यवस्था अंतर्विरोधपूर्ण घटकों से निर्मित होती है। इसलिए अपने क्रूर तंत्र, शासन और संवैधानिक परिच्छेदों का सहारा लेकर तब तक मानव स्वातन्त्र्य पर अपना प्रभुत्व जमाती है।

स्वतन्त्रता का जो अर्थ आधुनिक युग में लिया जाने लगा मध्यकालीन युग में उसकी प्रकृति एकदम भिन्न है। आज भौतिकवादी संस्कृति से जहाँ स्वातन्त्र्य पर अनेक प्रश्न चिन्ह लगे हैं वहाँ इसका मध्यकालीन परिप्रेक्ष्य भी कम रोचक नहीं है। “मध्यकाल में स्वतन्त्रता भौतिक अर्थों में स्वतन्त्रता के अर्थ से जुड़ी हुई धारणा नहीं थी। उच्चकालीन लोगों के लिए जुआ खेलने की स्वतन्त्रता, परस्त्रीहरण की विद्या सीखने की स्वतन्त्रता, उच्चश्रृंखला को स्वतन्त्रता, उस समय के विलासी जीवन की स्वतन्त्रता के ये कुछ महत्त्वपूर्ण पक्ष थे। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता जैसी धारणा भी केवल राज्यशक्ति द्वारा नियमित होने वाली धारणा थी। प्रमुख रूप से सहिष्णु सत्ताधिकारी

विधर्मों अनुष्ठानों के लिए स्वतन्त्रता देते अवश्य थे किन्तु वह स्वतन्त्रता भी देखभाल तक सीमित थी। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता केवल मनसारूप में चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता बन कर इतनी क्षीण रह गई थी कि एकान्त भाव से अपने आराध्य के प्रति स्वयं को समर्पित कर देने की भावना ही एकमात्र स्वतन्त्रता थी।<sup>26</sup> वस्तुतः मध्यकालीन स्वातन्त्र्य का यह रूप मानवीय चेतना की दासता का अभिशास रूप है। लेकिन आधुनिक सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्थाओं ने भी मानव स्वातन्त्र्य को अभिशास बनाया है। आधुनिक युग को वैज्ञानिक, उद्योगिक और तकनीकी उपलब्धियों ने जहाँ मानव के विकास को द्रुत गति प्रदान की है वहीं उसकी स्वतन्त्रता का हनन भी किया है। आधुनिक युग ने जिस प्रजातांत्रिक पद्धति को अपनाया वह भी दो क्षेत्रों क्रमशः पूँजीवादी और समाजवादी व्यवस्था में निभक्त होकर स्वातन्त्र्य की व्याख्या अपने ढंग से करती है। “समाजवादी देशों की राजनीतिक व्यवस्था और पूँजीवादी राष्ट्र को राजनीतिक और संवैधानिक संदर्भों में ही हल करती है।<sup>27</sup> आज पूँजीवादी व्यवस्था ने तकनीकी विकास में जिस उपभोक्ता संस्कृति को जन्म दिया है उसमें चिन्तन, विवेचना इत्यादि की स्वतन्त्रता तो है किन्तु जीवन यापन के दूसरे पक्षों में, अर्थात् भौतिक अर्थों में स्वतन्त्रता की कोई गुंजाइश नहीं है। इसलिए स्वतन्त्रता की कोई भी व्याख्या केवल वर्तमान को लक्ष्य में रखकर सार्थक नहीं हो सकती अपितु आज की स्वतन्त्रता तब तक सार्थक नहीं है जब तक वह भविष्य के सामाजिक उन्नयन से जुड़ी नहीं होगी। सामाजिक उन्नयन से जुड़ने की प्रक्रिया के लिए “विवेक और

---

26. गंगा प्रसाद विमल, आधुनिकता साहित्य के सन्दर्भ में, पृ० 16

27. गंगा प्रसाद विमल, आधुनिकता साहित्य के सन्दर्भ में, पृ० 17

स्वातन्त्र्य के वास्तविक अर्थ की तलाश आज की इस मार्मिक व्यंग्यात्मक स्थिति की पहली मांग है। आज विवेक और स्वातन्त्र्य की मूल धारणाएँ ही खंडित होती जा रही हैं। जिस स्वतन्त्रता के लिए मनुष्य व्यवस्था की मांग करता है, वह व्यवस्था स्वयं ही स्वतन्त्रता को नष्ट करने लगी है। जितनी परिधियाँ। जितनी सीमाएँ और जितनी मर्यादाएँ स्थापित होती हैं वह एक सीमा के बाद जड़ होकर रूढ़ि में बदल जाती हैं।<sup>28</sup> आज व्यवस्था की सत्ता से टकराहट, जीवन मूल्यों को आज के सदर्थों में सार्थकता ढूँढना स्वतन्त्रता और विवेक की बात करना निरर्थक है। इसका कारण यह है कि इनसे टकराने के लिए अथवा इनसे जूझने के लिए जिस विद्रोहात्मक चेतना का संस्कार उपजना चाहिए उसकी दिशा क्षुरोहीन हो गई है। “व्यवस्था या राज्यसत्ता के लिए एक हाथ में विद्रोह का शंख और दूसरे हाथ में आरती का थाल वाली स्थिति अब पहले से कहीं अधिक व्यापक और प्रभावशाली स्थिति में है। सबसे खेद जनक स्थिति यह है कि व्यवस्था का विरोध करने वाला लेखक कुछ दिन में स्वयं व्यवस्था का अंग बन जाता है। व्यवस्था जानती है कि किस लेखक की क्या कीमत है और लेखकों में से चतुर लेखक लगातार इस कीमत को बढ़वाने में मशगूल रहते हैं।<sup>29</sup> इसलिए व्यवस्था और मानव को अपने बीच की दूरी के संतुलन और विवेक को कायम रखना होगा अन्यथा स्वतन्त्रता को गिरवी रखकर व्यवस्था का मोहरा बनना होगा।

---

28. लक्ष्मी कान्त वर्मा, नए प्रतिमान, पुराने निबन्ध पृ० 118

29. महीप सिंह, सृजनशील साहित्यकार और व्यवस्था (लेख), विद्रोह और साहित्य सं० नरेन्द्र मोहन देवेन्द्र इस्सर, पृ० 37

मानव स्वातन्त्र्य की रक्षा उसकी बौद्धिक चेतना, तर्कशील मानसिकता अन्याय के विरुद्ध खड़े होने की सामर्थ्य, सत्य निष्ठा और ईमानदारी को पहचानने, आत्म सम्मान और स्वाभिमानपूर्ण जीवन जीने से हो सकती है। इन सभी क्रियाओं से मानव को संघर्ष, संबल, नई शक्ति, उत्साह और विवेक प्रदान होता है। अतः स्वतन्त्रता का वरण प्रत्येक मानव का मौलिक अधिकार है। स्वतन्त्रता वस्तुतः एक मानवीय चेतना है जो आत्मचेतना से उदित होकर सार्वजनिक स्वतन्त्रता के फलक तक विस्तृत हुई है, यदि हम यह स्वीकार करें कि आधुनिकता का मूल तत्त्व एक प्रकार की आत्मचेतना है तो स्वतन्त्रता के प्रश्न आधुनिकता से, अपरिहार्य रूप से, सम्बन्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।<sup>30</sup> अतः स्पष्ट है कि मानव स्वातन्त्र्य आधुनिक जीवन का मानवीय पहलु है।

#### 1.1.2.1 अस्तित्ववादी

अस्तित्ववादी विचारधारा के फलस्वरूप मानव स्वातन्त्र्य के चिन्तन का विकास किर्केगाद, नीत्शे, जैस्पर्स, सार्त्र, दोस्तावस्की, कामू आदि से हुआ। अस्तित्ववादी चिन्तन ने व्यक्ति की महत्ता स्थापित करने की चेष्टा की है। किर्केगाद को अस्तित्वाद का जनक माना जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने ही अस्तित्व की अर्थ पूर्ण ध्वनि हमारे समक्ष प्रस्तुत की। उनके अनुसार “अस्तित्ववाद मनुष्य ही चिन्तन और प्रामाणिक वरन् की प्रक्रिया से अपने ऐतिहासिक विकास का अंतर्दर्शन कर सकता है और अपने अज्ञात मार्ग का निर्धारण कर सकता है। अपने चिन्तन और वरण के लिए मानव पूर्णतया स्वतन्त्र है यह स्वतन्त्रता ही उसकी पीड़ा या चिन्ता का मूल है।”<sup>31</sup>

---

30. गंगा प्रसाद विमल, आधुनिकता साहित्य के सन्दर्भ में, पृ० 17

31. योगेन्द्र शाही, अस्तित्ववाद, किर्केगाद से कामू तक पृ० 7

नीत्शे के चिन्तन का मूल सिद्धान्त था “सत्ता विषयक, इच्छा शक्ति, सत्ता विषयक इच्छा शक्ति व्यक्ति के अहम् को महत्त्व देती है। इसलिए जिसमें स्वयं को स्थापित करने की शक्ति है उसे ही जीवित रहने का अधिकार है। युद्धों से त्रस्त मानव के लिए जब अपनी अस्मिता को बचाये रखना भी असम्भव प्रतीत होने लगा तब नीत्शे के क्रान्तिदर्शी चिन्तन ने मानव के लिए सभी प्रकार के भौतिक राज्यों से अतिमानव के राज्य की स्थापना को कल्पित किया तथा इसी में ही मानव स्वातन्त्र्य को स्वीकार किया है। नीत्शे के अनुसार मनुष्य इस संसार में स्वतन्त्र है और वह अपने निर्माण के प्रति पूर्ण उत्तरदायी है।”<sup>32</sup>

नीत्शे ने ईश्वर विषयक सभी स्थापनाओं को नकारते हुए मानव को अपने ‘स्व’ को पहचानने की प्रेरणा दी। इस ‘स्व’ के समग्र परिचय से मानव सभी सामाजिक प्रतिबन्धों को लांघता हुआ तथा जीवन संग्राम में जूझता हुआ अतिमानव की ओर अग्रसर होता है। वास्तव में नीत्शे ने सभी सामाजिक प्रतिबन्धों के प्रति मानव के प्रति मानव स्वातन्त्र्य को उपजा कर मानव को नया अस्तित्व दिया है।

महान् शक्ति “नीत्शे उनमें पाता है जो रचनात्मक ढंग से कार्यरत होते हुए अपने संवेगों को नियंत्रित तथा उदात्तीकृत करते हैं।”<sup>33</sup> नीत्शे मानता है कि प्रगति पथ में प्रत्येक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रविष्ट होना होता है प्रत्येक दूसरी अवस्था मनुष्य के लिए ‘सुपरमेन’ होती है, यही स्वतन्त्रता है। यह प्रगति का अनवरत् क्रम

---

32. डॉ० लालचन्द गुप्त मंगल, अस्तित्ववाद, दार्शनिक तथा साहित्य भूमिका पृ० 42

33. **The Concise Encyclopaedia of western Philosophy and Philosophers**  
p. 209

है। नीत्शे का दर्शन अह्यवादी है जिसके माध्यम से वह समाज में व्यक्ति को प्रतिष्ठित करना चाहता है। वास्तव में नीत्शे व्यक्ति के हित के लिए समाज को परिवर्तित करने का समर्थक है अर्थात् व्यक्ति की आवश्यकताओं के अनुसार समाज को ही बदलना चाहिए। मानव स्वातन्त्र्य होने का यही सर्वोत्तम उपाय है।

साहित्यकार सार्त्र ने मनुष्य की स्वातन्त्र्य भावना को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। वह कहता है यदि मनुष्य अपना सार स्वयं नहीं चुन सकता तो उसकी सारी स्वतन्त्रता दासता से कम नहीं है उसका अभिमत है कि मानव केवल स्वतन्त्र ही नहीं है, वरन् स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त भी है, मानव को स्वतन्त्र होना ही पड़ता है वह इससे बच नहीं सकता। सार्त्र ने मानव अस्तित्व के महत्त्व को स्थापित करते हुए सिद्ध किया कि “मानव ही निर्माता है, वही निर्णायक और नियामक है। उसकी स्वतन्त्रता उसके स्वयं लिए गए निर्णयों पर आधारित है। इसलिए स्वतन्त्र होने के लिए किसी ईश्वरीय सहायता की आवश्यकता नहीं है।”<sup>34</sup> सार्त्र के दर्शन में मानवीय स्वतन्त्रता का प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार “मनुष्य स्वतन्त्र है।”<sup>35</sup> इसका अर्थ है कि वह जो कुछ है अथवा जो कुछ वह करता है उसके लिए पूर्ण उत्तरदायी है। उसका यह उत्तरदायित्व केवल वैयक्तिक ही नहीं, उस एकाकी का चयन सम्पूर्ण समाज का चयन है। सार्त्र तो मानव की स्वतन्त्रता का इस सीमा तक समर्थक है कि वह उसे अपनी वासनाओं और मूल प्रवृत्तियों के भी वशीभूत नहीं मानता। सार्त्र ने मानव स्वातन्त्र्य का अध्ययन तीन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया है।

---

34. The Concise Encyclopaedia of western Philosophy and Philosophers  
p. 34

35. डॉ० लालचन्द गुप्त मंगल, अस्तित्ववाद, दार्शनिक तथा साहित्य भूमिका पृ० 62

## 1. वैयक्तिकता के सन्दर्भ में

सार्त्र के अनुसार मानव अपनी स्वातन्त्र्य भावना के द्वारा अपनी विशिष्ट एवम् मौलिक सृष्टि का निर्माण करता है। भविष्य के प्रति भी मानव में विशिष्ट मौलिक धारणाएँ, कल्पनाएँ एवम् आदर्श कार्य करते हैं, वह अपनी शक्ति सम्भावना तथा परिस्थितियों आदि का विश्लेषण करके अपने मानसिक जगत् में भविष्यत कार्य क्रम की योजना निर्मित करता है और फिर उस कल्पना चित्र के अनुरूप अपने व्यक्तित्व को ढालता चलता है। स्वनिर्धारित मूल्यों से निर्मित अपने कल्पना चित्र की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य की अनन्त इच्छाएँ उसे पुनः आन्दोलित करके नयी उपलब्धियों को प्राप्त करने के लिए बेचैन करने लगती है। इसलिए मनुष्य कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता। अतः मानव स्वातन्त्र्य की जीवनी शक्ति के लिए असृष्टि एक आवश्यक खाद्य पदार्थ है। मानव स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में साबर्टस का यह कथन उचित ही है कि “मानव की स्वतन्त्रता का तादात्म्य किसी विशेष स्थिति या लक्ष्य से नहीं। वह तो एक प्रवाह है जो स्वयं अपने आपको ढकेलता हुआ आगे बढ़ता जाता है, वह रूक नहीं सकता। किसी एक रूप को अपनाकर शान्त नहीं हो जाता।”<sup>36</sup>

## 2. व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में

सार्त्र के अनुसार, अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व-वृत्त एक व्यक्ति के अस्तित्व वृत्तों की परिधियों के मध्य आकार संघर्ष, भय, घृणा और प्रेम आदि सम्बन्धी अनेक मानवीय भावों के उद्भावक एवम् प्रेरक बनते हैं। इन्हीं विशेष प्रेरणा भूमियों के ही

---

36. डॉ० लालचन्द गुप्त मंगल, अस्तित्ववाद, दार्शनिक तथा साहित्य भूमिका पृ० 79



कारण व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य आकर्षण और विकर्षण की स्थिति बनती है और इन्हीं विशिष्ट भावना तरंगों की प्रतिक्रिया स्वरूप व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता का दूसरों के निषेध द्वारा अपहरण होता है। “प्रेम करने का मतलब है, दूसरे के अनुकूल बनकर अपनी स्वतन्त्रता खोना या दूसरे को अपने अनुकूल बनाकर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना। स्वपीड़न या परपीड़न इसके अतिरिक्त प्रेम की अन्य परिणति नहीं।”<sup>37</sup> इसका यही अर्थ हुआ कि मानव जब तक सामाजिकता के अनुबन्ध में बंधा रहता है, तब तक उसकी स्वातन्त्र्य भावना को स्वच्छन्द रूप से विचार करने का अवसर ही नहीं मिलता। परन्तु समाज में तो मनुष्य को रहना ही पड़ता है, इसीलिए सार्त्र ने इन स्थितियों से सामन्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है वह निजी चयन में ही सभी मनुष्यों का चयन करता है। किसी भी वस्तु का चयन करते हुए हमने जो कुछ चुना है, उसके मूल्य की भी हम प्रतिष्ठा करते हैं, क्योंकि हम कभी भी अशिव का चयन नहीं कर सकते, अतः जो हमारे लिए भी शिव नहीं, वह दूसरों के लिए भी शिव नहीं। वह दूसरों के लिए भी शिव अर्थात् कल्याणकारी नहीं हो सकता।

### 3. विभिन्न परिस्थितियों के सन्दर्भ में

सार्त्र के अनुसार परिस्थितियों द्वारा सम्बन्धित मानवीय स्वतन्त्रता का स्वरूप यद्यपि बाह्य दृष्टि से सीमित एवम् नियंत्रित लक्षित होता है, लेकिन ऐसा नहीं है। परिस्थितियाँ व्यक्ति की शक्ति को भले ही शासित करे। किन्तु उसकी स्वतन्त्रता तब भी अविजित ही रहती है। उसकी धारणा है कि “मैं स्वयं अपनी स्वतन्त्रता हूँ।”<sup>38</sup>

37. डॉ० लालचन्द गुप्त मंगल, अस्तित्ववाद, दार्शनिक तथा साहित्य भूमिका पृ० 79

38. डॉ० लालचन्द गुप्त मंगल, अस्तित्ववाद, दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका पृ० 80

लेकिन सार्त्रके ही अनुसार, इस संसार के दिए हुए मुहावरों में व्यक्ति स्वतन्त्र कहाँ है ? व्यवस्था का लम्बा-चौड़ा माया-जाल उसे लील रहा है। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्ति अपने वर्ग, परिवार और राष्ट्र की सीमाओं में आबद्ध है और उनसे पलायन करने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं है। फिर भी वह प्रयत्न करते रहकर इस माया जाल से मुक्त होकर, अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है। सार्त्र ने कामू को लिखा था, “आज उसके सिवाए हमारी कोई स्वतन्त्रता नहीं है कि हम स्वतन्त्र होने के लिए संघर्ष हेतु स्वतन्त्र वरण करें।”<sup>39</sup> सार्त्र की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा के विवेचन के उपरान्त एफ० एच० हीनमान ने उचित ही कहा कि सार्त्र स्वतन्त्रता चाहता है। यह बहुत स्वतन्त्रता चाहता है। वह हमें यह मानने के लिए प्रेरित करने का प्रयत्न करता है कि ईष्यालु या उदास होना हमने स्वयं चुना है। इस प्रकार सार्त्र का प्रत्येक मनुष्य छोटा ईश्वर बन गया है।

### निष्कर्ष

अस्तित्ववादी विचारधारा के अनुसार मानव स्वातन्त्र्य का प्रत्यय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मानव पूर्ण स्वतन्त्र है उसे यह स्वतन्त्रता कहीं अन्यत्र से उपलब्ध नहीं हुई वरन् यह तो मानव की एक अनिवार्य स्थिति है। मानव स्वतन्त्र है। उसका अर्थ है कि मानव अपने ऊपर अपना शासन चाहता है। क्योंकि व्यक्ति चयन करता है चयन की क्रिया किसी कार्य कारण परम्परा से बद्ध नहीं है। चयन मानव चेतना की स्वतन्त्रता को प्रमाणित करता है और स्वतन्त्रता चयन की सम्भावना का आधार निर्मित करती

---

39. लाल चन्द गुप्त मंगल, अस्तित्ववाद, दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका पृ० 80

हैं। मानव स्वतन्त्र है। अर्थात् वह समूह के विचार, परम्परा, नियम और व्यवस्था से पूर्णतः बद्ध नहीं है। वह व्यवस्था में उत्पन्न अवश्य होता है, किन्तु अपनी स्वतन्त्रता के द्वारा उस व्यवस्था को पुनर्निर्मित कर स्वयं की व्यवस्था स्थापित करता है।

अस्तित्ववादी विचारधारा पद्धति में मानव पूर्ण स्वतन्त्र है इसका अर्थ है कि वह उत्तरदायी है। उसकी स्वतन्त्रता में ही उत्तरदायित्व निहित है।

### 1.1.2.2 मार्क्सवादी

इस विचारधारा की उत्पत्ति मार्क्स के विचारों से प्रेरणा सूत्र ग्रहण करते हुए आधुनिक चिन्तकों के परिवर्तन शील संसार के मध्य शोषितों की दुर्दशा से व्यथित होने के कारण हुई। मूलतः यह विचारधारा वैज्ञानिक है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को उद्घाटित करती है। इस विचारधारा के उपजे द्वन्द्व की परिणति वर्गहीन समाज में होगी। इस विचारधारा के अनुसार इस संसार में शोषित और शोषक वर्ग के मध्य उपजे द्वन्द्व की परिणति वर्गहीन समाज में होगी। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् इस विचारधारा को धक्का पहुँचा है। परन्तु अब मार्क्सवादी चिन्तन इस विचारधारा को युगानुरूप संशोधित करने में प्रयासरत है। आज भी यह विचारधारा अपनी वैचारिक ऊर्जा से स्वयं को जीवन्त बनाये हुए हैं।

हीगल के द्वन्द्वात्मक विकास के सिद्धान्त का विकसित रूप कार्लमार्क्स की विचारधारा में देखा जा सकता है। मार्क्स ने समाज को अपने चिन्तन का आधार बनाया। इस विचारधारा की पृष्ठभूमि में औद्योगिक क्रान्ति को देखा जा सकता है। मार्क्स के मतानुसार साम्यवाद, जिसके साथ मानव जीवन आरम्भ हुआ था, तकनीकी अन्वेषणों से उसका अन्त हो गया। क्योंकि इन अन्वेषणों पर जिनका अधिकार हुआ

ये ऐसी सुदृढ़ आर्थिक अवस्था में आ गए कि अपने स्वार्थ के अनुसार मानवता का इतिहास वर्ग- संघर्ष का ही इतिहास है।<sup>40</sup> इस प्रकार समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया शोषक और शोषित। मार्क्स ने आर्थिक आधार पर विभाजित समाज के दोनों वर्गों को बुर्जुआ तथा सर्वहारा का नाम दिया है। औद्योगिक क्रान्ति से पूँजीवाद का विस्तार हुआ। आर्थिक तथा सामाजिक आधार पर यह स्थिति अत्यन्त घातक सिद्ध हुई। समाज पूँजीपति तथा श्रमिक दो वर्गों में बँट गया। शोषक वर्ग द्वारा अनेकानेक तरीकों द्वारा श्रमिक वर्ग का शोषण किया जाने लगा। पूँजीपतियों का उद्देश्य सर्वहारा वर्ग का अधिकाधिक शोषण करना हो गया। मार्क्स कहता है कि शोषक वर्ग धार्मिक, आध्यात्मिक तथा प्राकृतिक आदर्शों की बात शोषित वर्ग को यह विश्वास दिलाने के लिए करता है कि उसकी इस स्थिति के उत्तरदायी पूँजीपति नहीं अपितु कर्मफल है। आदर्श की यह स्थिति बड़ी घातक होती है जब व्यक्ति कर्मफल सिद्धान्त पर विश्वास करने लगता है तो उसे सभी अनुपयुक्त, अनुचित कार्य भी सही प्रतीत होते हैं क्योंकि वह इन्हें कर्मफल मानने लगता है और शोषक वर्ग के लिए ऐसे लोगों का शोषण करना बहुत सरल हो जाता है। इस प्रकार दोनों वर्गों में सदैव द्वन्द्व रहता है। इसी द्वन्द्व के कारण समाज सदियों से विकसित होता आया है और आगे भी होता ही रहेगा। मार्क्स ईश्वर के अस्तित्व को इसलिए नकारता है क्योंकि उसे वैज्ञानिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। तर्क से परे कोई भी वस्तु मार्क्स को अमान्य है। मार्क्स के चिन्तन का केन्द्र समाज है। मार्क्स की सारी लड़ाई पूँजीवादी व्यवस्था

---

40. The Concise Encyclopaedia of Western Philosophy and Philosophers  
p. 149

है। वह इस व्यवस्था को जड़ से खत्म कर देना चाहता है तथा एक ऐसे समाज की परिकल्पना करता है जहाँ कोई वर्ग न हो। क्योंकि अगर कोई वर्ग नहीं होगा तो संघर्ष भी नहीं होगा। इन सारी समस्याओं की जड़ पूँजीवाद है। इसके उन्मूलन के लिए साम्यवादी व्यवस्था का अवतरण आवश्यक है, जिसमें सत्ता होगी सर्वहारा वर्ग के हाथ में तथा श्रमिक का संचित श्रम उसकी आर्थिक स्थिति को अनुप्रमाणित करेगा। मार्क्स का यह चिन्तन व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करता है तथा प्रत्येक प्रकार के शोषण से स्वतन्त्र होने का मार्ग प्रशस्त करता है। मानव की शोषण से स्वतन्त्रता ही मार्क्स की विचारधारा का सिद्धान्त है।

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन के अन्तर्गत मानव स्वातन्त्र्य को लेकर दो भूमियों पर विचार किया जा सकता है- एक तो अपरिहार्य मानव मूल्य के रूप में, और दूसरे, अपने ऊपर गैर मार्क्सवादी विचारकों द्वारा लगाए गए आरापों के उत्तर के रूप में, जिनका सारा जोर इस एक तथ्य को सिद्ध करने की ओर है कि मार्क्सवाद के अन्तर्गत मानव स्वातन्त्र्य की इति नहीं, वरन् उसकी सच्ची सिद्धि है। हम इन भूमिकाओं को अलग-अलग न लेकर मानव स्वातन्त्र्य सम्बन्धी मार्क्सवादी धारणा को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

मार्क्सवाद मानव स्वातन्त्र्य का दर्शन है। वह मूलतः समाज तथा संसार को समझने और उन्हें बदलने का पथ निर्देश करने वाली क्रान्तिकारी विचारधारा है। जिसका मुख्य लक्ष्य मानवीय शोषण पर आधारित अन्याय और अनाचार मूलक पूँजीवादी समाज व्यवस्था तथा अमानवीय स्थितियों का अन्त कर एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित न होकर इस तमाम शोषण से उसकी

मुक्ति, सच्चा मानव स्वातन्त्र्य, बन्धुत्व एवम् सहयोग पर आधारित हो, वर्ग, वर्ण, जाति, धर्म आदि मानव को बाँटने वाली शक्तियों का नाश कर एक मानवता और एक विश्व व्यवस्था का शंखनाद करने वाली हो। इस संदर्भ में मार्क्सवादी विचारकों का सबसे पहला दावा तो यही है कि जो विचार दर्शन मानव की स्वतन्त्रता को साध्य मानकर सामने आया हो, और जिसने विश्व की एक तिहाई मानवता को पूँजीवादी, सामंतवादी, साम्राज्यवादी शिंकजे से वास्तव में स्वतन्त्र किया हो, वह मानव स्वातन्त्र्य, व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विरोधी कैसे हो सकता है ? इन विचारकों के मतानुसार मार्क्सवाद और प्रकारांतर से मार्क्सवादी साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य का विरोध नहीं, वस्तुतः उसकी सच्ची सिद्धि है।<sup>41</sup> मार्क्सवाद और मार्क्सवाद के प्रवर्तक पुरस्कर्ताओं मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार “स्वातन्त्र्य मानव की अनिवार्य स्थिति की स्वीकृति है, स्वातन्त्र्य मानव अस्तित्व की शर्त, उसकी अनिवार्यता है।”<sup>42</sup> मानव जीवन एवम् सामाजिक जीवन के विकास क्रम का अवलोकन और विश्लेषण करने के क्रम में जो तथ्य बार-बार उभर कर आता है, वह यही, कि अपने अस्तित्व को जानना, पहचानना और समझना ही मानव का प्रधान लक्ष्य रहा है। वह प्रकृति की शक्तियों से इसी कारण जूझता और लड़ता रहा है, कि उनकी दासता से अपने को मुक्त कर सके, उसका समूचा संघर्ष, मनुष्यता का समूचा विकास क्रम, सामाजिक जीवन की समूची परिवर्तित भूमिकाएँ, नाना प्रकार के बन्धनों एवं दासता से मानव द्वारा अपने को स्वतन्त्र किये जाने का ही प्रयास सूचित करती है। अतः उसके समूचे संघर्ष को मानवीय स्वतन्त्रता

---

41. शिव कुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन पृ० 415 से 416 .

42. शिव कुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन पृ० 216

का संघर्ष कहा जा सकता है, और इस संघर्ष में मार्क्सवाद का वैज्ञानिक विचार दर्शन अपने उद्भव के समय से ही उसका सबसे बड़ा संबल रहा है। इस विचार दर्शन ने एक अस्त्र की भान्ति उसको जकड़ने वाली कड़ियों को निर्ममता पूर्वक काटा है, और उसके स्वातन्त्र्य अभियान को गति दी है। यही नहीं, मार्क्सवाद ने ही मनुष्य के समक्ष स्वतन्त्रता का सही अर्थ उद्घाटित किया है, ताकि वह झूठी स्वतन्त्रता की तुलना में अपने सच्चे स्वातन्त्र्य की प्राप्ति की ओर बढ़ सके। एक सामाजिक विचार दर्शन होने के कारण मार्क्सवाद का लक्ष्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता न होकर समूचे मानव सम्प्रदाय की स्वतन्त्रता रहा है। उसने न केवल उसके समूचे प्रयासों को स्वतन्त्रता के व्यापक संदर्भ में विश्लेषित किया है। मार्क्स, एंगेल्स, प्लेखानोव आदि सम्पूर्ण मार्क्सवादी विचारकों ने इतिहास में व्यक्ति की भूमिका को निर्विवाद स्वीकृति दी है। उन्होंने और सिद्ध किया है कि जीवन को बदलने के साथ-साथ वह किस प्रकार अपने को बदलता रहा है, और इस क्रान्तिकारी अभियान के फलस्वरूप ही आज वह अपना वर्तमान रूप प्राप्त कर सका है। मार्क्सवाद को मानव स्वातन्त्र्य का शंखनाद करने वाला विचार दर्शन ही माना जा सकता है, उसे अवरूद्ध, सीमित अथवा समाप्त करने वाला दर्शन नहीं। मार्क्सवाद के व्याख्याताओं और विचारकों ने अपने समूचे चिन्तन के दौरान इस तथ्य का प्रतिपादन और पुष्टि की है। मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार मार्क्सवादी विचार दर्शन का मूल चारित्र्य मानव स्वातन्त्र्य के लिए उसके द्वारा किये गये प्रयासों एवम् उसकी सिद्धि में निहित है।<sup>43</sup>

मार्क्स और एंगेल्स आदि ने तो स्वातन्त्र्य के इन संदर्भों को विस्तार से

---

43. शिव कुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन पृ० 417

विश्लेषित किया ही है क्रिस्तोफर काडवेल ने भी इल्यूजन एण्ड रियालिटी तथा स्टडीज इन ए डाईंग कल्चर शीर्षक कृतियों में मानव स्वातन्त्र्य पर व्यापक प्रकाश डाला है। क्रिस्तोफर काडवेल का मानव स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विवेचन स्वातन्त्र्य सम्बन्धी बुर्जुआ धारणा के प्रतिपाद के क्रम में हमारे समक्ष आया है।

क्रिस्तोफर काडवेल के मतानुसार “बुर्जुआ स्वातन्त्र्य सम्बन्धी धारणा का मूल उद्देश्य उसका व्यक्तिवाद है। इसका सीधा सम्बन्ध पूँजीवाद व्यवस्था की उन असंगतियों से है जो बुर्जुआ रचनाकार या कलाकार को शनैः शनैः समाज से काटती हुई, आत्म केन्द्रित कर देती है। अब वह उन असंगतियों ओर अन्तर्विरोधों में ही जीने लगता है, और फलस्वरूप उसका समूचा चिन्तन और सर्जन उन असंगतियों ओर अन्तर्विरोधों को अभिव्यक्त करता है। अपने को छलने और धोखा देने के अतिरिक्त उसके पास कुछ नहीं रह जाता। वह पूँजीवादियों के मूल्य विवेचन को वास्तविक मूल्य विवेचन समझ लेता है, और उन्हें ही वास्तविक मूल्य कहकर समक्ष प्रस्तुत करता है। एक स्थिति वह आती है जब उसे यह अहसास होता है कि जिन धारणाओं एवम् मूल्यों को वह अत्यन्त पवित्र एवं शाश्वत माने बैठा था, वे धोखे के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। यह मोह भंग एक ओर मूल्य सम्बन्धी बुर्जुआ विचारों के खोखलेपन को स्पष्ट कर देता है। दूसरी ओर रचनाकार को सृजन की ऐसी अबूझ, अस्पष्ट गलियों में धकेल देता है, जहाँ घुटने और आतर्नाद करने तथा एक निहायत प्रतिगामी कला को जन्म देने के अतिरिक्त उसके सामने कोई रास्ता नहीं बचता।”<sup>44</sup> काडवेल के

---

44. इल्यूजन एण्ड रियालिटी, तीसरा खण्ड, काडवेल का साहित्य चिन्तन



अनुसार “बुर्जुआ की स्वातन्त्र्य सम्बन्धी धारणा एक भ्रम अथवा छलावा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वातन्त्र्य उसके लिए महज एक घोषणा है, जिसे वह ऊँचे गले से सदैव किया करता है, जबकि वास्तविक स्वातन्त्र्य का अर्थ ही वह नहीं समझता। यही कारण है कि स्वातन्त्र्य सम्बन्धी लम्बी-चौड़ी बातें करने के अतिरिक्त उसने कभी स्वातन्त्र्य को परिभाषित करने का साहस नहीं किया।”<sup>45</sup> वह कुछ ऐसा समझता है, जैसे स्वातन्त्र्य कोई ऐसा शब्द हो जिसे स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता न हो, वह इतना सरल हो कि सब लोग अपने आप समझते। फिर तो जाहिर है कि यह तथ्य बुर्जुआ-विचारकों की मूलभूत असमर्थता को ही इंगित करता है, जो कि वास्तव में उसका सत्य है।

बुर्जुआ विचारक के लिए स्वातन्त्र्य एक निरपेक्ष इकाई है, वह उसे मानवीय कर्म, दायित्व एवं संघर्ष से पृथक मानता है। इस बुर्जुआ धारणा का खण्डन करते हुए काडवेल ने प्रतिपादित किया है कि “बुर्जुआ स्वातन्त्र्य मनुष्य मात्र की स्वातन्त्र्य नहीं है, वह मात्र एक वर्ग की स्वातन्त्र्य है, जो विशाल मनुष्यता की अस्वतन्त्रता द्वारा ही फलीभूत होती है।”<sup>46</sup> अपनी स्वतन्त्रता की उपलब्धि के लिए, अपने द्वारा हस्तगत राज्य, पूँजी, पुलिस, फौज आदि साधनों के बल पर वह अपनी स्वातन्त्र्य के लिए संघर्ष करती शेष मनुष्यता से टकराती है, कारण यही हो सकता है कि शेष मनुष्यता को बेड़ियों में जकड़ कर ही वह अपने मनोनुरूप स्वातन्त्र्य की उपलब्धि कर सकता है। सामान्य मनुष्य जीवन को उदात्त बनाने वाली अपनी इच्छाओं की पूर्ति में ही

---

45. स्टडीज इन ए डाईंग कल्चर, पृ० 173-174

46. शिव कुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन पृ० 419

अपनी वास्तविक स्वातन्त्र्य समझता है और बुर्जुआ इस सिद्धि की राह में रोड़ा बनकर अपनी स्वतन्त्रता को उपलब्ध करता है। सर्वहारा वर्ग उन बेड़ियों को तोड़ने में अपनी स्वातन्त्रता मानता है जो पूँजीवाद ने उसके पैरों में जकड़ रखी है, और पूँजीवाद विचारक उन्हें रखकर ही अपनी स्वतन्त्रता का भोग कर सकता है, ऐसी स्थिति में बुर्जुआ की स्वातन्त्र्य सम्बन्धी धारणा की असलियत आप से आप स्पष्ट हो जाती है।

### निष्कर्ष

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार मार्क्सवाद मानव स्वातन्त्र्य का दर्शन है। वह मूलतः समाज तथा संसार को समझने और उन्हें बदलने का पथ निर्देश करने वाली क्रान्तिकारी विचारधारा है। जिसका मुख्य लक्ष्य मानवीय शोषण पर आधारित अन्याय और अनाचार मूलक पूँजीवादी समाज व्यवस्था तथा अमानवीय स्थितियों का अन्त कर एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित न होकर मानव स्वातन्त्र्य पर आधारित हो। मार्क्सवाद ने ही मनुष्य के समक्ष स्वतन्त्रता का सही अर्थ उद्घाटित किया है, ताकि वह झूठी स्वतन्त्रता की तुलना में अपने सच्चे स्वातन्त्र्य की प्राप्ति की ओर बढ़ सके। एक सामाजिक विचार दर्शन होने के कारण मार्क्सवाद का लक्ष्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता न होकर समूचे मानव सम्प्रदाय की स्वतन्त्रता है।

### 1.1.2.3 आधुनिकतावादी

आधुनिकतावादी विचारधारा के अनुसार आधुनिकता अनेक तत्त्वों से निर्मित है। इसमें नवीनता, साहस, सजगता व स्वतन्त्रता तत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं। मानव स्वातन्त्र्य को आधुनिकतावादी का नियामक तत्त्व मानते हैं। जिसके अन्तर्गत सोचने, समझने,

काम करने तथा रहने की स्वतन्त्रता सम्मिलित है। विचार-स्वातन्त्र्य आधुनिकता की सबसे बड़ी मांग है।<sup>47</sup> प्रजातान्त्रिक पद्धतियों के अन्तर्गत उदित होने वाली आधुनिकता वैयक्तिक स्वातन्त्र्य पर बल देती है।<sup>48</sup>

आधुनिकता की धारणा का सम्बन्ध निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है और इस दृष्टि से वैज्ञानिक प्रगति तथा उससे उद्भूत जीवन तथा विश्व दृष्टि ने मानव मन के सामने अनेक जीवन आयाम खोले हैं पर इन सभी आयामों ने मानवीय ज्ञान को अधिक विस्तृत और तार्किक भाव पर प्रतिष्ठित किया है।

आधुनिकता वास्तव में एक प्रक्रिया है जो अपने आप में एक उपलब्धि है। इसके मूल में प्रश्न चिह्न की निरन्तरता जिसे कवि हर पुराने नए मूल्य पर लगाने के लिए बाधित हो रहा है। यह निरन्तरता वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिणाम है और ऐतिहासिक की देन है।<sup>49</sup> इसलिए आधुनिकता को इतिहास से अलग नहीं किया जा सकता। मानव अपने अतीत को वर्तमान में ढालकर वर्तमान को अपने भविष्य के अनुकूल बना कर, उसे सामाजिक व्यवस्था का रूप देता है और वही आधुनिकता के नाम से अभिहित किया जाता है।

आधुनिकतावादी आधुनिकता को धर्म और दर्शन से अनुच्युत है, लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित होकर मानव व्यवहार के क्षेत्र में इसका निषेध करने लगा, परलोक की तुलना में लोक को सत्य मानना इतिहास विरोधी है। इस विरोध का

47. राजकमल बोरा, आधुनिकता और राष्ट्रीयता पृ० 15

48. सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश पृ० 111

49. इन्द्रनाथ मदान, कविता और कविता पृ० 4

‘प्रत्यय’ आधुनिकता का मूल तर्क है। देवता के स्थान पर पूर्ण मनुष्य की कल्पना केवल आधुनिक नहीं, आधुनिकता भी है।<sup>50</sup> इस तरह आधुनिकता का सम्बन्ध विज्ञान की उत्क्रान्ति से नहीं, मानवी विवेक से है। जब-जब पवित्र चेतना की आस्था तार्किक चेतना के विवेक ने अपदस्थ किया है, तब-तब आधुनिकता की झिलमिलाहट हुई है।

आधुनिकता का सम्बन्ध मानव व्यक्तित्व की खोज से ही नहीं है मानव स्वातन्त्र्य की गतिशील धारणा से भी है। इसमें एक ओर स्वच्छ रूप में आत्म निर्णय की स्वतन्त्रता विद्यमान है, दूसरी ओर मानवीय स्वातन्त्र्य चेतना की कामना की सक्रियता है। आधुनिकता एक ओर से अस्तित्ववाद दर्शन से, अस्तित्वगत स्थितियों के यथार्थ से जुड़ती है तो दूसरी ओर सामाजिक दर्शन और सामाजिक यथार्थ से।<sup>51</sup>

आधुनिकता का सम्बन्ध सामाजिक यथार्थ से है इसलिए मानवी पीड़ा से इसका गहरा सम्बन्ध है। इसलिए सच्चाई के साथ समझौता न करके सत्य को नग्न रूप में अंकित करना ही आधुनिकता है। आधुनिकता मानसिक प्रत्ययों तथा सामाजिक रहस्यों को सामने तथा विश्लेषित करने की विधि है ताकि विशेष देशकाल के सन्दर्भ में मानव सचेतन एवं स्वतन्त्र होकर परिवर्तन भी कर सके। आधुनिकता में व्यवहार और सिद्धान्त का संयोग है।

## 1.2 मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयाम

मानव स्वातन्त्र्य को समाज ऐतिहासिक, समाज सांस्कृतिक एवम् दार्शनिक

50. उर्मिला मिश्र, आधुनिकता और मोहन राकेश पृ० 5

51. नरेन्द्र मोहन, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण पृ० 47

आयामों में स्पष्ट करना समुचित प्रतीत होता है। इन तीन आयामों के अन्तर्गत मानव स्वातन्त्र्य का स्वरूप निरन्तर विकसित होता रहा है। इसलिए मानव स्वातन्त्र्य को समझने के लिए इनके अलग-अलग संदर्भों का विवेचन करना परमाश्यक है।

### 1.2.1 समाज-ऐतिहासिक

मानव स्वातन्त्र्य का स्वरूप समाज ऐतिहासिक संदर्भों के साथ-साथ निरन्तर विकसित होता रहा है इसलिए मानव स्वातन्त्र्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए समाज ऐतिहासिक संदर्भों का विवेचन करना आवश्यक है।

#### 1.2.1.1 आदिम समाज-व्यवस्था और मानव स्वातन्त्र्य

मानव ने वन्य जीवन से बाहर निकलकर जब कृषि पर आधारित सामूहिक तथा स्थायी जीवन व्यतीत करने का उपक्रम किया तो सबसे पहले कबीलों का उद्भव हुआ। यही आदिम समाज व्यवस्था थी। भारत के आदिम मनुष्यों के बीच कोई वर्ग विभाजन नहीं था और न कोई राजतंत्रीय संस्थाएँ ही थी। वे कुलों और कबीलों में सगठित थे।<sup>52</sup> आदिम आवश्यकताओं की पूर्ति आदि मानव की स्वतन्त्रता थी। आदिम समाज के सामाजिक सम्बन्ध निजी नैसर्गिक रूप में शोषण की संरचनाओं के जन्म लेने से पहले का है तथा अपेक्षाकृत अविकसित है, परन्तु विकृतियों की दृष्टि से अधिक स्वस्थ है।

#### 1.2.1.2 सामन्तवादी समाज व्यवस्था और मानव स्वातन्त्र्य

सामन्तवादी समाज व्यवस्था में मानव स्वातन्त्र्य के मध्ययुगीन रूप प्रकट हो

---

52. के दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ० 11

रहे थे। छठी शताब्दी ई० पू० के लगभग उत्तर भारत में सामन्ती व्यवस्था का प्रसार दिखाई देता है।<sup>53</sup> इस प्रथा का प्रभाव यह पड़ा कि किसान की भक्ति सीधे राजा के प्रति न होकर उस सामन्त या उपसामन्त के प्रति हो गई जिससे उसे भूमि प्राप्त हो।<sup>54</sup> इस प्रकार सामन्तवादी समाजवादी व्यवस्था में अनेक सर्वहारा किसानों को कृषि योग्य भूमि प्राप्त हुई जिससे उन्हें अजीविका के सुनिश्चित स्रोत उपलब्ध हुए। सामन्त अपनी समस्त भूमिका में समुचित प्रबन्ध करने में असमर्थ रहते थे। अतः एव उन्होंने भूमि का वितरण आरम्भ कर दिया। इससे उपसामन्त तथा छोटे-छोटे भूमिधर उपजे। आदिम समाज की भूमन्तु प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न विखराब एवम् अनिश्चितता के सामाजिक रूपाकारों का अतिक्रमण इस काल में दिखाई देता है तथा निजी सम्पत्ति के पूर्व रूपों के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों में स्थायित्व का तत्त्व प्रकट होता दिखाई देता है। इस काल में शोषण के अनेक रूप प्रकट होते प्रतीत हो रहे थे परन्तु उनकी पृष्ठभूमि स्वस्थ एवम् नये प्रकार के श्रम-विभाजन के रूपों में उपस्थित थी। इस प्रकार यह काल स्थायित्व से जुड़ी अस्मिता के अन्वेषण का काल है। सामाजिक दृष्टि से मानव स्वातन्त्र्य का स्वरूप यहाँ सामन्तीय संरचना के जन्म लेने वाली राजसत्ता की ध्रुवीयता से जुड़ा है जिसके कारण सांस्कृतिक रूपाकारों में अन्ततः एक ईश्वर की धारणा का पूर्वरूप विकसित होना आरम्भ हो जाता है।

### 1.2.1.3 पूँजीवादी समाज-व्यवस्था और मानव स्वातन्त्र्य

पूँजीवादी व्यवस्था शोषण की दृष्टि से जो मूलतः आर्थिक सामाजिक है। व्यक्ति

---

53. राम विलास शर्मा, मानव सभ्यता का विकास पृ० 87

54. राज नारायण गुप्त, राधानाथ चतुर्वेदी, पाश्चात्य राज दर्शन का इतिहास पृ० 144

स्वातन्त्र्य की अवधारणा को स्पष्ट करती है। पूँजीवादी व्यवस्था सामन्तवादी व्यवस्था से अधिक विकसित थी। सामन्ती व्यवस्था अपनी चरमावस्था में अधिक जटिल हो गई थी। सामन्त और प्रजा परस्पर शत्रु हो गये थे। सामन्त और उसकी प्रजा के परस्पर वर्ग विरोध का कारण यह था कि सामन्त प्रजा की रक्षा के नाम पर उससे तरह-तरह के कर बसूल करता था। और उससे अनेक अवसरों पर बेगार करवाता था।<sup>55</sup> सामन्तवादी व्यवस्था ने जब शोषक का रूप धारण कर लिया तो उसकी प्रतिक्रिया में पूँजीवादी व्यवस्था का उदय हुआ। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के केन्द्र में व्यक्ति आ जाता है। व्यक्ति की सत्ता, व्यक्ति के हित, व्यक्ति का जीवन ही पूँजीवादी व्यवस्था के चिन्तनीय विषय होते हैं। मानव की स्वतन्त्रता पर इतना अधिक बल आरम्भ में तो मानव को एक नयी अस्मिता प्रदान करता दिखाई देता है। जिसमें उसके सत्यान्वेषण का साहस पूर्वाग्रहों से स्वतन्त्र होकर वैज्ञानिक चेतना के अन्तर्विकास की प्रवृत्ति एवं भौगोलिक सीमाओं से ऊपर उठते हुए विश्व-मानव की धारणा की ओर प्रयास जैसी स्वस्थ प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, जबकि इसके उत्तरकालीन रूप में इसका एक संकुचित धारणा बद्ध रूप व्यक्तिवाद में उदित होता दिखाई देने लगता है।

#### 1.2.1.4 समाजवादी समाज व्यवस्था और मानव स्वातन्त्र्य

समाजवादी समाज व्यवस्था ने मानव को पूँजीवादी दासता से स्वतन्त्र कराने का कार्य किया। “पूँजीवादी शोषण के साथ मजदूर वर्ग का संघर्ष आरम्भ हुआ।”<sup>56</sup> मार्क्स ने एक जगह जब कम्यूनियजम की व्याख्या करते हुए कहा है कि कम्यूनियजम वह मानववाद है। “जिसका आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है।”<sup>57</sup> समाजवादी

55. राम विलास शर्मा, मानव सभ्यता का विकास पृ० 89-90

56. राम विलास शर्मा, मानव सभ्यता का विकास पृ० 213

57. राम विलास शर्मा, मानव सभ्यता का विकास पृ० 163

व्यवस्था मानव को वर्ग विरोधों से स्वतन्त्र करके एक वर्ग रहित समाज में स्थापित करना चाहती है। आधुनिक समाज की समाजवादी व्यवस्था के विविध व्यावहारिक रूप सामने आये हैं। रूस की क्रान्ति के पश्चात् चीन तथा अनेक अन्य देशों में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना एवम् विकास की ओर प्रयास दिखाई देता है। इस सामाजिक व्यवस्था के व्यावहारिक रूप क्या होंगे- इसका निर्णय एवम् मूल्यांकन काफी सीमा तक भविष्य को करना है तथापि इसका लक्ष्य मानव स्वातन्त्र्य के शोषण मुक्त एवम् वर्गहीन सामाजिक रूपाकारों से जुड़ा है।

### निष्कर्ष

समाज-ऐतिहासिक संदर्भ में अगर देखा जाये तो मानव स्वातन्त्र्य निरन्तर स्वरूपगत भिन्नताएँ ग्रहण करता गया है। आदिम कबिलाई समाज में जहाँ मानव स्वातन्त्र्य चेतना अपने अकुंठित रूप में प्राप्त होता है वही समाज व्यवस्था में परिवर्तन के साथ-साथ इसका स्वरूप और भी जटिल होता चला गया। सामन्तवादी समाज व्यवस्था में यह श्रमिक वर्ग की सामंतीय दासता के विविध घिनौने रूपों से स्वातन्त्र्य का रूप धारण कर लेता है। सामन्ती व्यवस्था की प्रतिक्रिया स्वरूप पूँजीवादी समाज व्यवस्था ने जन्म लिया जिसमें मानव की स्वतन्त्रता सर्वोपरि हो गई। मानव को पूँजीवादी दासत्व से स्वतन्त्र करने के लिए समाज व्यवस्था का उदय सम्भावित है जिसमें वर्गहीन समाज की स्थापना का लक्ष्य मानव स्वातन्त्र्य बन जाता है।

### 1.2.2 समाज सांस्कृतिक

मानव स्वातन्त्र्य को सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में आदर्शवाद एवम् विचारधाराओं के संस्कारात्मक एवम् व्यवहारात्मक रूपों के उदय एवम् विकास के रूप में देखा जा



सकता है। जिन्हें निश्चित सामाजिक परिप्रेक्ष्य ठोस एवम् मूर्त रूप प्रदान करता है। इसका विवेचन हम इस प्रकार कर सकते हैं।

### 1.2.2.1 पूर्ववैदिक संस्कृति

आर्येतर संस्कृति मानव स्वातन्त्र्य के उस सर्वात्मवादी रूप को स्पष्ट करती है जो कि अपनी पूर्ववर्ती संकीर्ण विचारधाराओं से सापेक्षतः स्वतन्त्र थी। “प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित करना चूंकि उनकी सामर्थ्य से बाहर था इसलिए सहज ही भूत प्रेतों को नृत्य संगीत और कई अन्य प्रकार की रस्मों से शान्त करने की कोशिश करते थे।”<sup>58</sup> आर्येतर संस्कृति ने प्राकृतिक आपदाओं से विमुक्त होने के लिए प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु में आत्मा की उपस्थिति की धारणा को जन्म दिया। यह मानव स्वातन्त्र्य का आदिम स्वरूप था जिसमें मानव ने अपनी समस्याओं को भावात्मक ढंग से सुलझाने का प्रयास किया तथा भावाश्रित मान्यताओं को स्वीकृति दी क्योंकि तब मानव चिन्तन इतना विकसित नहीं हुआ था कि प्रकृति को वैज्ञानिक ढंग से समझ सकता। फिर भी मानव स्वातन्त्र्य को समझाने का भरसक प्रयास किया है।

### 1.2.2.2 वैदिक संस्कृति

ऋग्वेदकालीन आर्य अनेक संगठनों में विभक्त थे, यथा, कुल, परिवार, ग्राम, विश, कबीला जन और राष्ट्र<sup>59</sup> “वेद मन्त्रों में जिस धर्म का विधान है, उसका आधार तत् और सत्य है। अहिंसा, यज्ञ आदि को परम धर्म माना गया है।”<sup>60</sup> ऋग्वैदिक आर्य अमरत्व का उल्लेख तो करते हैं किन्तु मोक्ष का नहीं। “सम्भवतः वे मोक्ष के

---

58. के दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 24

59. राजेन्द्र पाण्डेय, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 37

60. इन्द्रविद्यावाचस्पति, भारतीय संस्कृति का प्रवाह, पृ० 20

स्थान पर स्वर्ग प्राप्ति को सर्वोत्तम लक्ष्य मानते थे।<sup>61</sup> “वैदिक आर्यों का धर्म यज्ञ-प्रधान था।<sup>62</sup> वैदिक कर्मकाण्डों का मौलिक उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति अथवा ब्रह्म से साक्षात्कार नहीं था। उनका उद्देश्य जीवन में अच्छी-अच्छी वस्तुएँ, अच्छी संताने, धन, गाय, बैल आदि प्राप्त करना अथवा शत्रुओं का संहार करना था।<sup>63</sup> वैदिक संस्कृति मानव को तो सौ वर्ष तक जीने के लिए प्रेरित करती है। मानव चिन्तन जब विकासमान हुआ तो उसने यह धारणा स्पष्ट की कि जीवन की यथार्थ भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में स्वतन्त्रता है। इस लक्ष्य प्राप्ति हेतु वे लोग यज्ञ करते थे तथा विभिन्न देवताओं की स्तुति करते हुए स्वर्ग की कामना करते थे। वह स्वर्ग निश्चय ही धरती पर प्राप्त होने वाले उन सभी सुखों से सम्पन्न होगा जिनकी कामना में वैदिक कालीन मानव स्वातन्त्र्य स्वीकार करता था।

### 1.2.2.3 औपनिषदिक संस्कृति

“उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्मा का ज्ञान है।<sup>64</sup> उपनिषदों ने वैदिक यज्ञानुष्ठान सम्बन्धी संबृद्ध हो रहे कर्मकाण्ड से मानव को स्वतन्त्र कराने का उपाय (ब्रह्म ज्ञान) बताया। उपनिषदों के अध्ययन से पता चलता है कि उस काल में। वर्ष व्यवस्था में जुड़ता या कठोरता नहीं आई थी।<sup>65</sup> ब्रह्मा ज्ञान के द्वारा स्वयं ब्रह्म बनना, अपने कुल की ब्रह्मज्ञता की प्रतिष्ठा करना, शोक को पार करना, पाप रहित होना,

---

61. राजेन्द्र पाण्डेय, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 47

62. विजय बहादुर राव, उत्तर वैदिक समाज एवम् संस्कृति पृ० 7

63. के दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ० 45

64. इन्द्रविद्यावाचस्पति, भारतीय संस्कृति का प्रवाह, पृ० 34

65. इन्द्रविद्यावाचस्पति, भारतीय संस्कृति का प्रवाह, पृ० 35

अमरता तथा ग्रहा- ग्रन्थि से मुक्ति पाना सम्भव माना जाता था।<sup>66</sup> समाज सांस्कृतिक आधार पर उपनिषदों ने एक ही बह्य की अवधारणा को जन्म दिया तथा वर्ण व्यवस्था को नकारते हुए शुद्धाचरण के माध्यम से बह्य ज्ञान की प्राप्ति में मानव की कर्मफल तथा पुनर्जन्म से मुक्ति स्वीकार की। सांस्कृतिक आधार पर यह मानव स्वातन्त्र्य का स्वरूप मानव मुक्ति की अवधारणा से अपने पूर्व रूपों से अपेक्षाकृत अधिक विकसित था। इसी सन्दर्भ में मानव स्वातन्त्र्य को देखा गया है।

#### 1.2.2.4 श्रमण संस्कृति

श्रमण संस्कृति ने तप, संन्यास, अहिंसा इत्यादि व्रतों के माध्यम से मानव को स्वतन्त्र करना चाहा। जैनमत के प्रवर्तक महात्मा महावीर तथा बौद्धमत के संस्थापक महात्मा बुद्ध ने जीवन के परम लक्ष्यों में “अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह<sup>67</sup> तथा शुद्ध दृष्टि, शुद्ध संकल्प, शुद्ध वाणी, शुद्ध व्यवहार, शुद्ध जीविका, शुद्ध कर्म, शुद्ध मन और शुद्ध ध्यान”<sup>68</sup> को रखा जो मानव को स्वतन्त्र करने में सापेक्षतः समर्थ थे। बुद्ध के अनुसार “जो जीवन पद्धति किसी व्यक्ति या समाज को निर्वाण के निकट पहुँचाती है वह धर्म है।”<sup>69</sup> बौद्धकालीन अव्यवस्थित तथा रक्तरंजित राजनीति और पुरोहितवाद ने मानव को सत्य तथा शान्ति प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर किया। शोषण तथा हिंसा के अजस्र प्रवाह ने मानव जीवन को दुःख पूर्ण बना दिया था।

---

66. इन्द्रविद्यावाचस्पति, भारतीय संस्कृति का प्रवाह, पृ० 71

67. विजय बहादुर राव, उत्तर वैदिक समाज एवम् संस्कृति पृ० 73

68. राम जी उपाध्याय भारत की संस्कृति साधना, पृ० 380

69. राम जी उपाध्याय भारत की संस्कृति साधना, पृ० 51

जिसके प्रतिरोध में बुद्ध तथा महावीर जैसे सत्यान्वेषकों ने मानव को स्वतन्त्र करने के लिए सत्य, अहिंसा, शुद्ध व्यवहार तथा अपरिग्रह जैसे नियमों को स्थापित किया। सांस्कृतिक आधार पर जन चेतना का यह अपूर्व उत्थान था।

### 1.2.2.5 पौराणिक संस्कृति

“पौराणिक युग में वेदों का अध्ययन पूर्ववत् प्रतिष्ठित रहा है।”<sup>70</sup> “पौराणिक युग में त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और शिव का स्पष्टतः सर्वाधिक महत्त्व माना गया।”<sup>71</sup> “पौराणिक मान्यताओं के अनुसार पाण्डाल और शुद्र तक पवित्र और धार्मिक जीवन बिता कर मुनि पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं।”<sup>72</sup> पौराणिक संस्कृति वर्ण व्यवस्था के बन्धनों को तोड़ कर आर्य तथा आर्येत्तर धर्म भावनाओं को समन्वित रूप में स्थापित करती है। वास्तव में पौराणिक संस्कृति ने मानव को संकीर्ण धार्मिक विचारों से स्वतन्त्र करते हुए एक समन्वित धर्म भाव की संकल्पना की। इस प्रकार पौराणिक संस्कृति ने मानव स्वातन्त्र्य को अधिक व्यापक अर्थ दिये।

### निष्कर्ष

सांस्कृतिक आयामों के सन्दर्भों में मानव स्वातन्त्र्य के स्वर जाति-प्रथा, वर्ण-व्यवस्था, बाह्याडम्बरों का विरोध तथा ब्रह्मा की उपासना के रूप में स्पष्ट होते हैं। धर्मचरण एवम् आध्यात्मिकता जिनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए भारतीय जनमानस कभी यज्ञों का विधान करता था तो कभी एक ही ब्रह्मा के प्रति अखण्ड रूप से समर्पण

---

70. राम जी उपाध्याय भारत की संस्कृति साधना, पृ० 53

71. राम जी उपाध्याय भारत की संस्कृति साधना, पृ० 352

72. राम जी उपाध्याय भारत की संस्कृति साधना, पृ० 360

भाव को व्यक्त करता था। कभी यह जनमानस रक्त रंजित वर्तमान का विरोध करने हेतु अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का समायोजन करता था और कभी समाज में जातिगत, धर्मगत सौहार्द्र स्थापित करने हेतु त्रिदेवोपासना का वि करता था। वास्तव में ये सब प्रयास सांस्कृतिक जीवन में नव-मूल्यों की स्थापना हेतु थे। इन्हीं नव-मूल्यों में मानव-स्वातन्त्र्य के रूपाकार निर्मित एवम् विकसित होते हैं। नव मूल्य ही मानव स्वातन्त्र्य के मुख्य पहलु हैं।

### 1.2.3 दार्शनिक

समाज ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक आधार पर मानव स्वातन्त्र्य के जिन स्वरो की उत्पत्ति हुई दार्शनिक आधार पर इन्हीं स्वरो की दार्शनिक अवधारणाओं एवम् व्यवस्थाओं के रूप में अभिव्यक्ति हुई। वैदिक दर्शन से लेकर भक्तिकाल तक मानव स्वातन्त्र्य की अवधारणाओं को स्पष्ट करने के लिए वैदिक दर्शन से लेकर भक्तिकालीन आयामों की दार्शनिक मान्यताओं तक का अध्ययन आवश्यक है।

#### 1.2.3.1 वैदिक दर्शन

वैदिक आर्यों में सर्वप्रथम प्रकृति की विविध विभूतियों का देव रूप में दर्शन किया। “पशुधन, धन, संतति, घर, अन्न इत्यादि इच्छित वस्तुओं की कामना से इन्द्र, मित्र, वरूण, अश्वि, भंग, पूजा तथा रूद्र आदि देवताओं को हवि के द्वारा प्रसन्न करने का प्रयास वैदिक आर्य करते थे। वैदिक काल में समाज तथा प्रकृति का गहन सम्बन्ध स्थापित होता है। विभिन्न देवों की स्तुति के पीछे भी भौतिक सुख सुविधाओं तथा सुरक्षा की इच्छा ही प्रेरणा स्वरूप है।”<sup>73</sup> वैदिक दर्शन ने बहुदेववाद की स्थापना

---

73. नन्द किशोर देवराज, भारतीय दर्शन पृ० 322

की तथा इन देवों की स्तुति के माध्यम से मानव स्वातन्त्र्य का मार्ग प्रशस्त किया।

आदिम धूमन्तु सामाजिक संरचना में प्रत्येक मानव की श्रद्धा अपने कबीले के मुखिया के प्रति थी तथा प्रत्येक आवश्यकता के लिए वे उसी पर आश्रित रहते थे। इसी के अनुरूप दार्शनिक आधार पर इस भावना की अभिव्यक्ति बहुदेववाद में हुई जिसमें इन देवताओं को तुष्ट करके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु यज्ञानुष्ठान वैदिक संस्कृति एक अनिवार्य अंग हो गया। इसी में मानव स्वातन्त्र्य निहित था।

#### 1.2.3.2 औपनिषदिक दर्शन

औपनिषदिक दर्शन ने वैदिक बहुदेववाद के स्थान पर एक ब्रह्म भावना का विस्तार किया। यह दर्शन मानव को (अहम् ब्रह्मास्मि) की स्थिति तक पहुँचाकर सभी दुविधाओं से स्वतन्त्र कर देना चाहता है। मानव स्वातन्त्र्य का यह स्वरूप वैदिक बहुदेववाद के स्वरूप से अधिक आत्मविस्तारात्मक है। “उपनिषदों ने प्रथम वार पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड का एकत्व प्रतिष्ठित किया। प्रकृति के मूल में ब्रह्मा की शक्ति को पहचाना तथा प्रकृति के विराट् स्वरूप के पिण्ड में भी दर्शन किये गये।”<sup>74</sup> यहाँ आकर मानव प्रकृति का दास न रहकर उसका सहचर हो जाता है।

उपनिषद काल में कबीलों का संगठन जब एक राज्य के रूप में होने लगा तो दार्शनिक चिन्तन में एक ब्रह्म की अवधारणा का विकास हुआ। सत्यान्वेषण तथा उस परम ब्रह्म से एकत्व स्थापित करने हेतु लौकिक यज्ञानुष्ठान का प्रावधान किया

---

74. के दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 161

गया। इस प्रकार मानव स्वातन्त्र्य का यह स्वरूप अपने पूर्व रूपों से अधिक विकसित है।

### 1.2.3.3 चार्वाक दर्शन

“वैदिक काल के उत्तरार्ध में दर्शन और यज्ञ सम्बन्धी प्रकरणों पर विवाद करके सत्यासत्य के निर्णय करने का प्रचलन था।”<sup>75</sup> “एक ओर वेदों को एकमात्र अविस्वादी प्रमाण मानने की प्रवृत्ति जिस प्रकार तीव्र रूप धारण करती जाती थी दूसरी ओर उसकी उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया भी चल रही थी।”<sup>76</sup> चार्वाक दर्शन ने बाह्याडम्बरों से स्वतन्त्र होकर सुखी-समृद्ध जीवन व्यतीत करने में ही मानव की स्वतन्त्रता को माना है। उनके लिए केवल सुख प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है।<sup>77</sup> सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए किसी देवता की स्तुति में यज्ञानुष्ठान करने की आवश्यकता को वे अस्वीकार करते हैं।<sup>78</sup> इस प्रकार चार्वाक दर्शन भौतिकवादी विचारधारा को मानव स्वातन्त्र्य का साधन स्वीकार करता है। वैदिक काल में ही वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया होने लगी थी। पुरोहितवाद ने जहाँ जनसामान्य को अपने चुंगल में फंसा रखा था, वहीं मानसिक तथा आर्थिक आधार पर उसका शोषण भी खूब करता था। मानव चिन्तन ने इस सारे जंजाल से स्वतन्त्र होने के लिए प्रत्येक धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक अवधारणाओं को तर्क की कसौटी पर कसने

---

75. राम जी उपाध्याय भारत की संस्कृति साधना, पृ० 271

76. हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना पृ० 25

77. एस० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन भाग 21 पृ० 189

78. के दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 169

का साहस किया। दार्शनिक आधार पर चार्वाक दर्शन ने जन्म लिया। दार्शनिक पद्धति नितान्त नवीन तो नहीं कही जा सकती क्योंकि इससे पूर्व उपनिषदों ने वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध किया था तथापि इस विरोध ने न तो अपेक्षित तीक्ष्णता थी और न ही प्रबल प्रभाव। चार्वाक दर्शन ने पहली बार मानव चिन्तन को एक अलग दिशा प्रदान की। और मानव स्वातन्त्र्य को सर्वोपरि माना।

#### 1.2.3.4 षड्दर्शन

कपिल का सांख्य, पतंजलि का योग, कणाद का वेशेषिक, गौतम का न्याय, बादरायण की वेदान्त उत्तरमीमांसा, जैमिनी को पूर्वमीमांसा दर्शन के क्षेत्र में षड्दर्शनों के नाम से जाने जाते हैं। “इन सभी का उद्देश्य भिन्न-भिन्न भागों से मोक्ष की प्राप्ति करने के साधन बताना है। सांख्य कर्म की प्रधानता मानता है और योग दर्शन साधनों की। वेशेषिक पदार्थों के ज्ञान पर बल देता है और न्याय ज्ञान के साधन प्रमाणों पर। पूर्वमीमांसा मुख्य रूप से यज्ञों की विधि और उनमें प्रयुक्त होने वाली क्रियाओं के रहस्य तथा नियमों की व्याख्या करता है। उत्तरमीमांसा का दूसरा नाम वेदान्त हैं उसमें ब्रह्म के रूप का निरूपण किया गया है।”<sup>79</sup> यह सब दर्शन वैचारिक धरातल पर मानव के सीमित (स्व) को स्वतन्त्र असीम में परिवर्तित करने का मार्ग बताते हैं।

सामन्ती समाज व्यवस्था में जब मानव की स्थिति अत्यन्त शोच्य हो गई तो चिन्तन के धरातल पर दुःख से छुटकारा पाने के लिए तर्क और प्रमाण का बोलवाला हुआ। आत्म-चिन्तन तथा सत्यान्वेषण के लिए आत्मविश्लेषण तथा आत्म-नियंत्रण

---

79. इन्द्रविद्यावाचस्पति, भारतीय संस्कृति का प्रवाह पृ० 64



की अवधारणाओं को स्थापित किया गया। यह सब अवधारणाएँ मानव के एकान्तिक चिन्तन की प्रतिफल थी। अतः मानव का यह एकान्तिक चिन्तन ही मानव स्वतन्त्र चिन्तन के माध्यम से ही मानव सत्यानवेषण एवम् विश्लेषण कर सकता है।

### 1.2.3.5 बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन ने दुःख को महत्त्वपूर्ण माना तथा दुःख से निवृत्ति को मानव-स्वातन्त्र्य माना। “बौद्ध धर्म का उदय उस समय हुआ जब पुरोहित वर्ग का बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक आधिपत्य समाज के विकास में रूकावटें खड़ी करने लगा था।”<sup>80</sup> समाज ऐतिहासिक, सांस्कृतिक आधार पर बौद्ध दर्शन ने पुरोहितवाद का खण्डन करके मानव स्वातन्त्र्य को स्वीकार किया।

### 1.2.3.6 जैन-दर्शन

बौद्ध दर्शन के समान जैन दर्शन भी जीवन को दुःखपूर्ण मानता है तथा यह कहता है कि निर्वाण का मार्ग त्रिरत्नों अर्थात् भगवान् जिनमें आस्था रखने, उनके सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने और निर्दोष आचरण में से होकर जाता है।<sup>81</sup> इस प्रकार जैन दर्शन भी दुःख से निवृत्ति को ही मानव स्वातन्त्र्य स्वीकार करता है।

सामन्ती सामाजिक संरचनाओं तथा रक्तरंजित राजनीति की प्रतिक्रिया बौद्ध तथा जैन दर्शनों में दिखाई देती है। जहाँ निवृत्ति के माध्यम से सब दुविधाओं से निर्वाण प्राप्ति की अवधारणा को स्थापित किया वहीं वैदिक कर्मकांड, पुरोहितवाद तथा अन्धविश्वासों का खण्डन इन दर्शनों की सांस्कृतिक मान्यताएँ थीं। यही मान्यताएँ

80. के दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 118

81. एस० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन भाग 11 पृ० 298



मानव-स्वातन्त्र्य चेतना से जोड़ती है।

### 1.2.3.7 अद्वैत-वेदान्त

“शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट ने दार्शनिक दृष्टि से बौद्धधर्म का खण्डन करके ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा की।”<sup>82</sup> जीव तथा बह्य का अद्वैत ही मानव को मिथ्या जगत से छुटकारा दिलवा सकता है- अद्वैत इस धारणा में विश्वास रखता है। “इस प्रकार जीव, जगत और परमात्मा तीन बातें सामने आती हैं। परमात्मा शिव है, जीव प्राणी है और बह्य सत्य है जगत मिथ्या है। समाज ऐतिहासिक आधार पर सामंतवाद के ऐतिहासिक दौर में जब सम्राट केन्द्रित व्यवस्था आती है तो दर्शन के क्षेत्र में पर यह भावना बौद्ध-शून्यवाद का घोर विरोध करती थी। इस प्रकार मानव स्वातन्त्र्य का स्वरूप अपनी नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप दार्शनिक परिणतियों में विकसित हो जाता है।”<sup>83</sup>

### 1.2.3.8 नाथ सम्प्रदाय

नाथों की दृष्टि में नाथ स्वरूप में लय होना ही मुक्ति है।<sup>84</sup> नाथों ने बौद्ध धर्म की परम्परागत साधना, चिन्तन, संयम, विरक्ति, प्राणायाम आदि को अपने विशेष रूप में अंगीकार कर लिया। उन्होंने काया-शोधन, मनोमारण और संयत जीवन पर विशेष जोर दिया।<sup>85</sup> मानव स्वातन्त्र्य का यह स्वरूप मानव मुक्ति की दृष्टि से अपने

82. राजेन्द्र पाण्डेय, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 86

83. रांगेय राघव, गोरखनाथ और उनका युग पृ० 97

84. नरेन्द्र कुमार शर्मा, भारतीय दर्शन और संत पानपदात पृ० 46

85. विद्यावती मालविका, हिन्दी सन्त साहित्य और बौद्ध धर्म का प्रभाव पृ० 115

पूर्व रूपों से अधिक विकसित तथा विस्तृत था। “गोरखनाथ की साधना का स्वर शील, संयम और शुद्धतावादी था और उन्होंने तान्त्रिक उच्चखलताओं का विरोध कर निर्भय हथौड़े से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण कर दिया।”<sup>86</sup>

### 1.2.3.9 सिद्धमत

सिद्ध-सम्प्रदाय ने काम-साधनों के माध्यम से मानव-स्वातन्त्र्य को स्वीकृत किया। यह स्वातन्त्र्य चेतना सभी अन्तः तथा बाह्य जगत की वर्जनाओं से मुक्त थी। “वज्रयानी सिद्धों ने महायान की शून्यता का प्रज्ञा और करुणा को उपाय के नाम दे दिए तथा इन दोनों के मिलन को साधक का परम लक्ष्य ठहराया।”<sup>87</sup> “प्रज्ञा और उपाय का युगनद्ध सिद्धों की चिन्ता और साधना की मूल मिति हो गई है।”<sup>88</sup> पतनशील सामन्ती सामाजिक व्यवस्था में जिस प्रकार के विसांस्कृतिक-सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति हो रही थी उसमें नारी की दशा के अनुरूप ही सिद्ध मत में युगनद की उपासना का दार्शनिक विकास सम्भवतः नारी के कामिनी रूप को ही स्वातन्त्र्य परक स्वीकार कर लिया गया।

### 1.2.3.10 तंत्र या आगम

“आगम मुख्यतः तीन प्रकार के हैं- शैव, शाक्त तथा वैष्णव।”<sup>89</sup> सभी आगम अपने-अपने देव के परमतत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।<sup>90</sup> विष्णु वैदिक है।<sup>91</sup>

86. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ, सम्प्रदाय पृ० 177

87. नरेन्द्र कुमार शर्मा, भारतीय दर्शन और संत पानपदात पृ० 42

88. धर्मवीर भारती, सिद्ध, साहित्य पृ० 182

89. सुरेन्द्र मोहन प्रसाद, शाक्त दर्शन और हिन्दी के वैष्णव कवि, पृ० 182

90. अशोक कुमार कालिया, लक्ष्मी तन्त्र धर्म और दर्शन पृ० 2

91. हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० 37

शिव परम योगी है।<sup>92</sup> शक्ति नारी स्वरूप है।<sup>93</sup> इस प्रकार सगुण पूजा के दार्शनिक विकास में इन आगमों ने शिव, विष्णु तथा शक्ति की प्रतिष्ठा की। इन तंत्रों के दर्शन के अनुसार शिव, विष्णु तथा शक्ति तीनों ही भक्त के उद्धार में समर्थ हैं तथा इनके अनुग्रह से ही परम तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है। तंत्रों ने तत्कालीन सामाजिक संरचना के भीतर जनमानस की धारणाओं को विकसित करने में अपूर्व योगदान दिया। आर्य तथा आर्येतर धर्म भावनाओं का समन्वय करके सदियों से चले आ रहे इनके सम्बन्धों को कुछ शान्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। जिसके फलस्वरूप तत्कालीन धर्म भावना का त्रिदेवोपासना के रूप में विकास परिलक्षित होता है।

### 1.2.3.11 कापालिक

कापालिकों ने गुह्या तान्त्रिक साधनाओं के द्वारा मानव-स्वातन्त्र्य सम्भव माना। “कापालिकों का सम्प्रदाय महेश्वर का उपासक था।”<sup>94</sup> “शिव का जोर ताण्डव संसार के विध्वंसक भीषण भार को स्वयं वहन करने के लिए है। जिससे विश्व इसकी विभीषिका से सुरक्षित रहे। कापालिक साधकों का यही उद्देश्य है।”<sup>95</sup> समाज में धर्म के नाम पर व्याप्त शोषण तथा अनाचार विरोध करना मानव का ऐतिहासिक कर्तव्य हो गया था। कापालिकों ने जीवन को रौद्र रूप में ग्रहण कर ग्रह्य तांत्रिक साधनाओं के माध्यम से मानव को अन्तः तथा बाह्य जगत की सीमाओं से ऊपर उठाया। मानव

---

92. राम जी उपाध्याय, भारत की संस्कृति साधना, पृ० 372

93. राम जी उपाध्याय, भारत की संस्कृति साधना, पृ० 373

94. राम जी उपाध्याय, भारत की संस्कृति साधना, पृ० 368

95. राम जी उपाध्याय, भारत की संस्कृति साधना, पृ० 369

स्वातन्त्र्य का यह स्वरूप नितान्त अलग प्रकार का था।

### 1.2.3.12 शाक्त दर्शन

शाक्त दर्शन ने काम साधनाओं को अपनाते हुए मानवीय भावनाओं का उदात्तीकरण कर मानव स्वातन्त्र्य के लिए पथ प्रशस्त किया। हिन्दु धर्म दर्शन में शक्ति का अर्थ सृजनात्मक तत्त्व अथवा ऊर्जा है। शक्ति नारी तत्त्व मानी जाती है, जो पुरुष तत्त्व की पूरक है।<sup>96</sup> शक्ति ईश्वर का एक अन्तर्निहित गुण है।<sup>97</sup> “यह शक्ति स्त्रीरूपा बनकर विश्व को धारण तथा उत्पन्न करती है। वह पालती भी है तथा संहार भी करती है। अर्थात् सृष्टि में जो भी है वह शक्ति है। वही मातृ-शक्ति है।”<sup>98</sup> सामन्ती व्यवस्था में नारी के भोग्या रूप को ही प्रमुख माना गया। जिसके दार्शनिक रूप में नारी की शक्ति के रूप में परिकल्पना की गई। यही उनकी स्वातन्त्र्य चेतना थी। इस प्रकार काम को वर्जित न मानते हुए शाक्ताचार्यों ने स्वातन्त्र्य चेतना को अपना एक साधन बना लिया।

### 1.2.3.13 भक्तिकाल के विभिन्न दार्शनिक मत

शंकर अद्वैत-वेदान्त के अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों के आविर्भाव में अपनी भूमिका निभाई। अद्वैत-वेदान्त का विकास विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद एवम् अचिन्त्य भेदाभेदवाद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों में हुआ। जिनके प्रतिष्ठाता क्रमशः रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मद्यवाचार्य बल्लुवाचार्य तथा महाप्रभु

96. के दामोरन, भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 288

97. के दामोरन, भारतीय चिन्तन परम्परा पृ० 288

98. सुरेन्द्र मोहन प्रसाद, शाक्त दर्शन और हिन्दी के वैष्णव कवि पृ० 70

चैतन्य हैं। इस प्रकार शंकर के अद्वैत वेदान्त की अवधारणा दार्शनिक धरातल पर भक्तिकाल में भावपूर्ण तथा प्रेममयी अद्वैत भावना में विकसित हो गई जिसका समग्र विकास भक्तिकाल में दिखाई देता है। भक्तिकाल में जहाँ भाव की स्थापना हुई, वहीं सामाजिक व्यवहार का समावेश भी उसमें कर दिया गया तथा प्रेमपूर्ण अद्वैत भावना के माध्यम से मानव स्वातन्त्र्य का पथ दर्शाया। सामन्तीय समाज व्यवस्था में मानव अस्मिता की रक्षा कैसे की जा सकती है तथा दुःख से छुटकारा कैसे संभव है। भक्तिचार्यों ने इन समस्याओं का समाधान केवल भाव भक्ति के रूप में दिया जिसने समाज को बहुत गहरे में प्रभावित किया तथा मानव स्वातन्त्र्य को इन्हीं रूपों में दर्शाने का भरसक प्रयास किया।

### निष्कर्ष

मानव स्वातन्त्र्य की सन्दर्भ में सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक परिणतियों की दार्शनिक अभिव्यक्ति ने वैदिक काल से लेकर भक्ति काल तक किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है। वैदिक काल में जहाँ आदिम कबीलाई समाज के कारण मानव जीवन स्थायित्वहीन था तथा विभिन्न कबीलों में संगठित था, वहीं इस काल में मानव का प्रयाण दिखाई देता है। चाहे उस समय दार्शनिक चिन्तन वैज्ञानिक नहीं था तथापि यह मानव विश्वासों के दार्शनिक रूपों की सहज अभिव्यक्ति थी। जीवन में स्थायित्व की स्थापना होते ही चिन्तन के धरातल पर एक ही ब्रह्मा से एकत्व-स्थापना की अवधारणा को बल मिलने लगता है, औपनिषदिक दर्शन में जिसकी अभिव्यक्ति हुई है। मानव वैदिक काल से ही कर्मकाण्ड, अन्धविश्वासों से स्वतन्त्र होने का प्रयास करता आ रहा है किन्तु इसका सुस्पष्ट रूप चार्वाक दर्शन में आकर

हमें मिलता है। यहीं से चिन्तन की धाराएँ स्पष्टतः तीन रूपों में विखण्डित होती दिखाई देती हैं- कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा भौतिकवाद। इन्हीं चिन्तन धाराओं से चिन्तन की सभी उत्तरकालीन धाराएँ प्रभावित दिखाई देती हैं- षड्दर्शन, अद्वैत-वेदान्त जैन, बौद्ध दर्शन और नाथ सम्प्रदाय आदि दार्शनिक ज्ञानकाण्ड की परिणतियाँ हैं। सिद्धमत, तंत्र, कापालिक यह सभी धाराएँ लगभग एक प्रकार की सामन्ती सामाजिक संरचना में पनपी। सभी धाराओं ने दुःख की उपस्थिति को मानते हुए उससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है- इसके सम्बन्ध में अपने-अपने दृष्टिकोण से चिन्तन किया तथा मानव स्वातन्त्र्य के मार्ग को प्रशस्त किया, जिससे मानव अपनी स्वातन्त्र्य चेतना के माध्यम से दुःख से छुटकारा पा सके।

### 1.3 संत साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयाम

मध्यकालीन संत साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य के समाज ऐतिहासिक, समाज सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष ही प्रमुखतः स्पष्ट हुए। मानव स्वातन्त्र्य हेतु ये पक्ष महत्त्वपूर्ण हैं। मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयामों को उनके अंश-अंशी सम्बन्धों में समग्रतः विश्लेषित करना संभव हो जाता है।

#### 1.3.1 समाज-ऐतिहासिक

संत साहित्य की उद्भव कालीन समाज व्यवस्था, सामन्तवादी तथा पूँजीवादी समाज व्यवस्थाओं के बीच की व्यवस्था है। जब सामन्तवादी व्यवस्था पतनोन्मुख थी तथा नये पूँजीवाद युग का आविर्भाव अभी हुआ नहीं था। सामन्ती समाज व्यवस्था के मृत मूल्यों और आचार-विवादों को निरर्थक सिद्ध करके नये युग के अनुरूप नई आचार पद्धति को दृढ़मूल प्रतिष्ठा देने वालों में संत सर्वप्रथम और सर्वाधिक सचेष्ट

थे।<sup>99</sup> मूसलमानों अनवरत् आक्रमणों के कारण भारतीय राजनीति विशृंखल हो गई थी। इसी कारण समाज भी अव्यवस्थित हो गया। “ऐसी बात नहीं कि भारत पर पहले आक्रमण ने हुए हों। मुसलमानों के पहले भी भारत पर शक, हूणों ओर यूनानियों के आक्रमण हुए थे लेकिन ये आक्रमणकारी भारत में ही बस गए थे। उनके अत्याचार धर्माधता की नीति से प्रेरित नहीं थे। वे भारत में रहकर भारतीय हो गए।”<sup>100</sup> इस काल में धर्म ने राजनीति से गठबन्धन कर लिया, जिसके कारण उसका स्वरूप शोषक हो गया। इस्लाम ने कट्टरपंथी मुल्लाओं से नाता जोड़ा तो हिन्दु धर्म ने असहिष्णु ब्राह्मणों से नाता तोड़ लिया वास्तव में यह मुल्ला और पुरोहित राजा की शरण में रहते थे तथा इसीलिए अपने तथा राजा के राजनीतिक हितों का पोषण करने के लिए धर्म के नाम पर जनसामान्य का शोषण करते रहते थे। संतों ने इस सारी स्थिति को समझा तथा काजी और ब्राह्मण से नाता तोड़ कर मानव को अलख निरंजन की शरणमें जाने का उपदेश दिया। वही स्वातन्त्र्य चेतना का एकमात्र मार्ग था। समाज ऐतिहासिक आधार पर संत कवियों ने मानव को समस्त राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दबावों से स्वतन्त्रता दिलाने का भरसक प्रयास किया। उन्होंने ऐसे समाज की परिकल्पना कि जिसमें किसी भी प्रकार का भेदभाव न होगा मानव-मानव होकर रह सकेगा। मानव स्वातन्त्र्य का यह रूप अपने पूर्वरूपों से अधिक विकसित था। सन्तों ने सामन्ती व्यवस्था को मृत मूल्यों का उच्छेदन कर पूँजीवादी व्यवस्था के अनुरूप नए मूल्यों की स्थापना हेतु जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि का विरोध करते हुए इन सभी सामन्तीय

---

99. राजदेव सिंह, संत साहित्य पुनर्मूल्यांकन पृ० 292

100. सुदर्शन सिंह मजीठिया, सन्त साहित्य पृ० 55



भेदभावों से सर्वोपरि मानव स्वातन्त्र्य परक चिन्तन को प्रश्रय दिया। पूँजीवादी व्यवस्था में जाति, पाति, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय आदि के भेद भावों को नये सामाजिक विरोधाभासों में विघटित होने का अवसर मिल सका है, जबकि यही सब संज्ञाएँ सामन्ती समाज व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग होती है। इसलिए सन्तों का चिन्तन जहाँ तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था से प्रभावित था, वहीं तत्पुगीन समाज व्यवस्था के अनुरूप उनके चिन्तन के नये आयाम नितान्त उपयुक्त थे। अर्थात् विकसित होती समाज व्यवस्था ने संतों के चिन्तन को पर्याप्त प्रभावित किया तथा मानव स्वातन्त्र्य परक चिन्तन सन्तों के माध्यम से सन्त साहित्य में किसी न किसी रूप में पाया गया।

### 1.3.2 समाज-सांस्कृतिक पक्ष

समाज सांस्कृतिक आधार पर सन्तों ने मानव स्वातन्त्र्य की संभावनाओं को सन्त साहित्य में असंख्य समाज सांस्कृतिक रूढ़ियों व गलित परम्पराओं के उच्छेदन द्वारा उद्घाटित किया। सन्तों से पहले नाथ योगियों ने भी समाज सांस्कृतिक धरातल पर मानव स्वातन्त्र्य के लिए आवाज उठाई थी। “सन्तों के विचार, जीवन, जगत् को देखने-परखने की दृष्टि और उस देखे-परखे को अभिव्यक्त करने वाली भाषा, पारिभाषिक शब्द, छन्द, अलंकार, सत्य को दो टूक कह देने की साहसिकता सभी नाथपन्थी योगियों की सीधी परम्परा में पड़ते हैं।”<sup>101</sup> गोरखनाथ ने तत्कालीन समाज संस्कृति में व्याप्त असंगतियों के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने भी हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों संस्कृतियों में व्याप्त असंगत बातों का विरोध किया। जीव हत्या के लिए काजी

---

101. राजदेव सिंह, संत साहित्य पुनर्मूल्यांकन पृ० 280

को डांटते हुए वे कहते हैं, “हे काजी मुहम्मद-मुहम्मद न करो क्योंकि तुम मुहम्मद को जानते नहीं हो। तुम समझते हो कि जीव-हत्या करते हुए हम मुहम्मद के मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। मुहम्मद का विचार बहुत गम्भीर और कठिन है। मुहम्मद के हाथ में जो छूरी थी, वह न लोहे की गढ़ी हुई थी, न इस्पाल की, जिससे जीव हत्या होती है। जिस छुरी का प्रयोग मुहम्मद करते थे, वह सूक्ष्म छुरी शब्द की छुरी थी। अर्थात् वह शिष्यों की भौतिकता को नष्ट करने वाली छुरी है। इसलिए जीवन दायिनी है अर्थात् जीवन देने वाली है।”<sup>102</sup> ऐसे ही भाव को व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं, एक तो जीव हत्या करते हो फिर उसे धर्म बताते हो। यदि यह धर्म है तो अधर्म कैसा होता है, स्वयं तो तुम मुनिजन बन के बैठ गये और फिर कसाई किसको कहा जाये।<sup>103</sup> संतों ने दोनों संस्कृतियों में व्याप्त अनाचारों तथा बाह्याडम्बरो का विरोध किया। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों में व्याप्त रूढ़ मान्यताओं का प्रतिरोध कर सन्तों ने मानव को इन गलित मान्यताओं से स्वतन्त्र करने का प्रयास किया। दोनों धर्मों में व्याप्त बाह्याडम्बरो का प्रतिरोध करते हुए कबीर कहते हैं, “पता नहीं तेरा साहेब कैसा है हे मुल्ला तुम तो मस्जिद में खुदा को ऊँचे स्वर में पुकारते हो, क्या तुम्हारा वह मालिक बहरा है। अरे! उसे तो चींटी के पैर में बजता हुआ घुँघरू भी सुनता है। हे

---

102. महंमद महंमद न करि काजी महंमद का विषय विचारं।

महंमद हथि करद जे होती लोहे बड़ी न सारं ॥1 ॥

- पीताम्बर दत्त बड़थाल, सं० 2017, गोरखवानी, पृ० 4

103. जीव बधत अरू धरम कहत हो, अधरमे कहां है भाई।

आपन तौ मुनिजन हवै बैठे, का सौन कहां कसाई ॥

- श्याम सुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली सं० 2018 पृ० 78-79

पंडित! तू आसन लगाकर माला जाप करता है, किन्तु तेरे भीतर जो कपट की कतरनी है उसे भी परमात्मा देखता है।<sup>104</sup> इसलिए मानव को धर्म सम्प्रदाय से सर्वथा स्वतन्त्र रहना चाहिए तथा प्रभु का स्मरण करना चाहिए। गुरु नानक भी दोनों संस्कृतियों में व्याप्त गलित परम्पराओं से जो कि मानव को जकड़े हुए हैं उनसे स्वतन्त्र होने का संदेश देते हैं। वे कहते हैं “रिश्वतखोर लोग नमाज अदा करते हैं तथा लोगों के गले पर छुरी चलाते हैं।”<sup>105</sup> ऐसे कार्य निन्दनीय है। हिन्दुओं की सूतक-पातक प्रथा का प्रतिरोध करते हुए वह कहते हैं “अगर सूतक माना जाए तो प्रत्येक स्थान पर सूतक है। जितने भी अन्न के दाने हैं जीव के बिना नहीं है।”<sup>106</sup> इसलिए मानव को सूतक-पातक से मुक्त रहना चाहिए। संतों ने दोनों संस्कृतियों में व्याप्त अनाचारों तथा बाह्याडम्बरो का विरोध किया तथा मानव धर्म का संदेश दिया। इन सन्त कवियों ने

104. न जाने तेरा साहेब कैसा है।

मसजिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या तेरा साहिब बहरा है।

चिऊँटी के पंग जेवर वाजे, सो भी साहब सुनता।

पंडित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है।

अन्दर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है।

कबीर ग्रन्थावली सटीक पृ० 64

105. माणसखाणे करहि निवाज।

छुरी वगायनि तिन गलि लाग ॥

- शब्दार्थ वाणी श्री गुरुनानक पृ० 220

106. जेकर सूतक मानीये सबतै सूतक होय ॥

जैसे दाने अन्न के जीआ खाई न कोय ॥

- शब्दार्थ वाणी श्री गुरुनानक पृ० 222

मानव को जाति-पाति, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, धर्म सम्प्रदाय आदि के भेद भावों से दूर एक ऐसे समाज द्वन्द्वों तथा विषादों से विनिर्मुक्त होकर सुखी जीवन व्यतीत करो कहा। सन्तों के इसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण की सृष्टि के नए चरण खुले। मुस्लिम संस्कृति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जाति बन्धनों में भी कुछ शिथिलता आई तथा सांस्कृतिक सौहार्द्र के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। सन्तों ने ऐसी संस्कृति की नींव रखी जिसमें मानव की स्थिति प्रत्येक प्रकार के भेद भावों से सर्वोपरि थी। इसी में मानव स्वातन्त्र्य को भी देखा गया। भक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप पहली बार जाति के नाम पर बँटे हुए लोग धर्म के नाम कटे हुए लोग संगठित रूप से अपनी बात कह सकने में समर्थ हुए, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक नयी समाज सांस्कृतिक चेतना का परिसार होने लगा, जोकि सभी जातियों, सम्प्रदायों तथा धर्मों से ऊपर उठी हुई थी। इसी विश्व जनीन चेतना का पल्लवन भक्तिकाव्य में हुआ। सांस्कृतिक आधार पर मानव को स्वातन्त्र्य चेतना का मार्ग दिखाने के लिए सन्तों ने जहाँ दोनों संस्कृतियों के नकारात्मक तत्त्वों का कड़ा विरोध किया वहीं इनके सकारात्मक तत्त्वों की स्वीकृति दी।

### 1.3.3 दार्शनिक

मानव स्वातन्त्र्य के विविध आयामों के अन्तर्गत सन्त-साहित्य का विवेचन अत्यन्त आवश्यक है। यह विवेचन दार्शनिक अन्तर्धाराओं के सन्दर्भ में हमने करने का प्रयास किया है। सन्त साहित्य में मानव-स्वातन्त्र्य को स्पष्ट करने में विभिन्न दार्शनिक अन्तर्धाराओं ने बहुमूल्य योगदान दिया। वैदिक अन्तर्धारा से लेकर भक्तिकालीन आचार्यों की दर्शनगत मान्यताओं का अनुभूत्यात्मक अतर्विकास सन्त

साहित्य में परिलक्षित होता है। दर्शनों की वैज्ञानिक तर्कबहुल अन्तर्धाराओं में प्रेम, आनन्द तथा अनुभूति का समाहार करने का श्रेय सन्तों को जाता है। मानव स्वातन्त्र्य के दार्शनिक विकास में सन्तों का यह अपूर्व योगदान था, जिसमें नीरस को सरस बनाने का सराहनीय प्रयास किया गया। इन दार्शनिक अन्तर्धाराओं में से सन्तों ने उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण कर अनुभूति परक बनाकर मानव स्वातन्त्र्य की धारणा से अवगत कराकर मानवीय संवेदनाओं से संयुक्त कर दिया तथा मानव स्वातन्त्र्य को अपने साहित्य में आध्यात्मिक दृष्टि से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

### 1.3.3.1 वैदिक अन्तर्धारा

वैदिक दर्शन में मानव की स्वतन्त्रता का मार्ग आध्यात्मिक पथ पर चलने के रूप में ढूँढा गया है। इसी सन्दर्भ में वैदिक दर्शन भौतिक आवश्यकताओं से जुड़ा हुआ है। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वे देवों की पूजा करते हैं। वैदिक दर्शन के बहुदेववाद की अवधारणा सन्त साहित्य में विकसित होकर एक परमतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। मानव स्वातन्त्र्य का स्वरूप केवल भौतिक ही न होकर आध्यात्मिक भी हो जाता है, हालांकि जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन सन्त भी परमेश्वर को मानते हैं। परन्तु वैदिक अन्तर्धारा के अनेक तत्त्वों के प्रति सन्तों ने आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखा। “यज्ञानुष्ठान का विरोध वे करते हैं।”<sup>107</sup> इसी प्रसार बहुदेववाद की भी आलोचना करते हैं।<sup>108</sup> वैदिक काल में शिल्प पक्ष

107. सहज प्रकाश, पृ० 64/2

108. जैसी देखौ आत्मा, तेते सालिगराम।

साधू प्रसधि देव हैं, नहीं पाधर तू काम ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० 191

का महत्त्व बहुत था। उत्पादन के अतिरेक से विभिन्न शिल्प तथा उद्योगों से उन्नति हुई। इस प्रगति की सूचना युजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता में प्राप्त होती है। इसमें कई नये पेशेवरों के नाम हैं। मध्यकाल में भी शिल्प तथा उद्योग का अपूर्व विकास हुआ। सन्तों ने शिल्प तथा उद्योग के वैदिक रूपों से विकसित करके नये अर्थ दिये। “उनके व्यवसाय उनकी स्वतन्त्रता के माध्यम बन गए।”<sup>109</sup> इस प्रकार सन्तों ने वैदिक अर्न्तधारा के ग्राह्य तत्त्वों को ग्रहण किया तथा मानव स्वातन्त्र्य हेतु निषेधात्मक तत्त्वों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखा। वैदिक धाराओं का भावात्मक विकास सन्त साहित्य में दिखाई देता है।

### 1.3.3.2 औपनिषदिक अर्न्तधारा

औपनिषदिक दर्शन (स्व) के विस्तार में मानव स्वातन्त्र्य को स्वीकार करता है। सन्त साहित्य (स्व) के अनुभूत्यात्मक अतिक्रमण के माध्यम से (पर) तक विस्तृत होने की अवधारणा का विकास करता है (स्व) के इस अतिक्रमण में सन्तों ने सभी सामाजिक सम्बन्धों के प्रति सर्वस्वीकारात्मक दृष्टिकोण रखा है। मानव स्वातन्त्र्य का यह रूप औपनिषदिक विचारधारा से अधिक गहन एवं विस्तृत था। सन्त साहित्य में औपनिषदिक दर्शन के प्रभाव को (अद्वैतावस्था) के रूप में ग्रहण किया है।<sup>110</sup> सन्त कवियों ने

---

109. छौं मास तागा बरस दिन कुकुरी, लोग बोलैं भलकातल चपुरी।

कहहिं कबीर सूत भलकाता। रहता नही मुक्ति को दाता ॥35 ॥

- कबीर ग्रन्थावली, पृ० 42

110. पाणी ही तो हिम भया हिम हवै गया बिलाई।

जो कुछ था सोई भया अब कछु कहया न जाई ॥17 ॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० 111

उपनिषदों में वर्णित आत्मा की चार अवस्थाओं- जागृत,<sup>111</sup> स्वप्न<sup>112</sup> सुषुप्ति,<sup>113</sup> सुरीय<sup>114</sup> आदि के दर्शन का प्रभाव भी अंशतः पड़ा है। “जागृत और स्वप्नावस्था का वर्णन सन्तों ने किया है।”<sup>115</sup> सुषुप्ति की अवस्था में मन भी मृतक समान हो जाता है।<sup>116</sup> तुरीयावस्था में आत्मा-परमात्मा का अभिन्न संयोग हो जाता है।<sup>117</sup>

उपनिषदों में एक के रहस्यान्वेषण की प्रक्रिया को जन्म दिया तथा एक ब्रह्मा की शक्ति को सर्वत्र विद्यमान माना। उपनिषद दर्शन का पर्याप्त प्रभाव सन्त साहित्य पर पड़ा। सन्तों ने भी ब्रह्मा के विविधता-बाहुल्य को स्वीकार करते हुए भी उसे एक माना। इसी तरह सन्तों ने मानव की स्वतन्त्रता को भी अपने साहित्य में स्वीकार किया।

### 1.3.3.3 भौतिकवादी अर्न्तधारा

उपनिषदों को कर्मकाण्ड के सन्दर्भ में विश्लेषित करें तो यह तथ्य उभर कर

111. उपनिषद् भाष्य ( खण्ड 21 ) पृ० 10/3

112. उपनिषद् भाष्य ( खण्ड 21 ) पृ० 13/4

113. उपनिषद् भाष्य ( खण्ड 21 ) पृ० 15/5

114. उपनिषद् भाष्य ( खण्ड 21 ) पृ० 34/7

115. जागत जगपति देखिए, पूरन परमानन्द, सोबत भी साँई मिलै, दादू अति आनन्द।

- परशुराम चतुर्वेदी, दादूदयाल पृ० 51

116. कबीर मन मृतक भया, दुरवल भया सरीर।

तब पंडें लागा हरि फिरै, कहत कबीर-कबीर ॥77 ॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० 241

117. कबीर ग्रन्थावली पृ० 87/8

सामने आता है कि उनमें भी कर्मकाण्ड का विरोध होने लगा था। बहुदेवोपासना के स्थान पर एक ब्रह्म की परिकल्पना भौतिक यज्ञों के स्थान पर आध्यात्मिक तथा मानसिक यज्ञों का प्रावधान प्रस्तुत करके वैदिक रीति-नीतियों का विरोध कर दिया था तथापि इस विरोध का रूप उतना मुखर नहीं था जितना कि चार्वाकों का था। वैदिक कर्मकाण्ड को चार्वाकों ने तर्काधारित चुनौती दी। चार्वाकों की इस परम्परा का कुछ अंश तक विकास मध्यकाल में दिखाई देता है। मध्यकालीन सन्तों ने चार्वाकों की चुनौती परक दृष्टि को तो सम्पूर्णतः स्वीकार कर लिया किन्तु उनकी विशिष्ट तर्क की परम्परा को बिल्कुल त्याग दिया। अनुभूति को प्रमुख स्थान उनके साहित्य में मिला। अनुभूति का ग्रहण करते हुए उन्होंने प्रत्येक अव्यवस्था को चुनौती दी। शास्त्र, आगम, निगम सब नगण्य हो गए। ज्ञान सर्वाधिक सक्रिय हो उठा। सन्तों ने तत्कालीन “धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अव्यवस्थाओं को अनुभवाश्रित उक्तियों द्वारा उन्मूलित करने का प्रयास किया। वैदिक परम्परा से हटकर नव-चिन्तन की इस परम्परा का जन-साधारणमें महत्त्व बढ़ा। रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों से यह अनुभूत्यात्मक चुनौती परक अभियान मानव स्वातन्त्र्य की अवधारणा ही प्रतिफलन है।” और यही चुनौती मानव स्वातन्त्र्य चेतना को उद्घाटित करती है।

#### 1.3.3.4 षड्दर्शनों की अर्न्तधारा

षड्दर्शनों में सांख्य, न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों ने मानव विकास की जैविक संरचनाओं को दैहिक साधनाओं के माध्यम से पूर्व वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित किया। मानव अस्तित्व की गुत्थियाँ सुलझाने में इन दर्शनों की पहुँच सीमित हो कर रह गई। मानव के मानसिक आध्यात्मिक पक्ष को समझने का प्रयास योग दर्शन में अधिक हुआ। योग दर्शन इसका परिचय देता है कि मानव मन मानव के व्यक्तित्व को किस



प्रकार परिचालित करता है। तथापि योग दर्शन सामान्यतः दैहिक अन्तर्दैहिक क्रिया व्यापारों तक सीमित रहता है। पूर्वमीमांसा ने वैदिक कर्मकाण्ड को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया, तो उत्तर मीमांसा ने औपनिषदिक ब्रह्म-उपासना को पुनः स्थापित करना चाहा। सन्त साहित्य में मानव मन तथा बुद्धि से समन्वित एक सामाजिक प्राणी बन गया सन्तों ने सांख्य दर्शन की तरह मानव के जैविक विकास की संरचनाओं को समझने-समझाने का प्रयत्न न करके मानव को सभी मानवीय संवेदनाओं से सम्पन्न प्राणी माना। मानव व्यक्तित्व के परिष्कार तथा परिमार्जन हेतु वे योगपरक अन्तर्दैहिक प्रक्रियाओं को अत्यन्त उपादेय स्वीकार करते हैं।<sup>118</sup> सन्तों की धारणा थी कि आत्म नियन्त्रण के माध्यम से मानव समस्त बुराईयों से स्वतन्त्र रह सकता है। इसी में मानव स्वातन्त्र्य निहित है।

### 1.3.3.5 बौद्ध-जैन दर्शनों की अर्न्तधारा

बौद्ध दर्शन के अनुसार ज्ञान की सार्थकता जीवन को दुःख रहित बनाने में है। मानव ही स्वयं दुःखों का कारण है तथा स्वयं को मानव ही दुःखों से मुक्त कर सकता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन ने चिन्तन के सन्दर्भ में मानव स्वातन्त्र्य परक चिन्तन को मानव-केन्द्रित बनाने का प्रयास किया। बौद्ध जैन दर्शन के सन्दर्भ में अगर मानव स्वातन्त्र्य को आध्यात्मिक दृष्टि से मानव मुक्ति की धारणा से देखें तो मानव मुक्ति शून्यस्थ समाधि है अर्थात् मानव-मुक्ति एक अनुभवहीन शून्यत्व में स्थित होना है जहाँ सभी मनोभाव प्रायः मृत हो जाते हैं। मानव चेतना एक शून्य में केन्द्रित हो जाती है। बौद्ध दर्शन के प्रमुख तत्त्व दुःख तथा करुणा का अन्तिम समाहार भी समाधि में

---

118. कबीर ग्रन्थावली पृ० 152/2

हो जाता है। सन्त साहित्य में बौद्धों की इस समाधिपरक साधना का विकास दिखाई देता है। सन्तों के अनुसार परमतत्त्व से गहन साक्षात्कार हेतु समाधि आवश्यक है किन्तु सन्तों की यह समाधि शुष्क शून्यत्व नहीं है। हालांकि सन्तों में (सुन्न समाधि) शब्द का अत्यधिक प्रयोग किया है, तथापि उनकी समाधि आनन्दमय है। जहाँ अनहद गूँजता है, इसका पूर्ण परिपाक होता है।<sup>119</sup> “सन्तों की यह समाधि केवल व्यक्तिगत आनन्दानुभूति तक ही सीमित नहीं रहती अपितु वे उसे व्यापक सामाजिक विस्तार प्रदान करते हैं तथा आचरण तक विकसित करते हैं, उनकी समाधि इस दृष्टि से अधिक सहज तथा सक्रिय है।”<sup>120</sup> जबकि जैन-बौद्ध दर्शनगत समाधि निष्क्रियता की वह अवस्था है जहाँ सभी प्रक्रियायें शान्त हो जाती है। बौद्ध दर्शन ने जीवन में दुःख की सत्ता अपरिहार्य मानी तथा उसके समस्त प्रयास भी मानव जीवन को दुःख रहित करने की दिशा में सक्रिय थे। जबकि सन्तों ने जीवन में दुःखों की उपस्थिति को स्वीकार करते हुए यह घोषित किया कि दुःखों से बचा नहीं जा सकता, जीवन दुःखमय है, मानव जीवन में सफलता तभी प्राप्त कर सकता है यदि वो सुःख, दुःख में बराबर रहे। यह स्थिति राम की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है तथा तभी वह एक सहज जीवन जीत हुए मुक्त रह सकता है।<sup>121</sup> इसी में मानव स्वातन्त्र्य निहित है।

---

119. जगत गुर अनहद कींगरी बाजै, तहाँ दीरध लयौ लागै।टेक॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० 378

120. मैमंता अविगत रता अकलप आसा जीति। राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीति॥6॥

- कबीर ग्रन्थावली पृ० 145

121. दूनिया भांडा दुःख का, भरी महामुह भूप। अदया अलह राम की, कुरहै उणों कूप॥47॥

कबीर ग्रन्थावली पृ०145

### 1.3.3.6 अद्वैत-वेदान्त की अन्तर्धारा

अद्वैत-वेदान्त अन्तर्धारा के अन्तर्गत यह धारा मानव को सभी मिथ्या जागतिक व्यापारों से स्वतन्त्र रहने का उपदेश देता है। सन्त साहित्य में अद्वैत-वेदान्त की अद्वैतवादी अवधारणा को पर्याप्त समर्थन मिला। परन्तु इस का सन्त साहित्य में स्वरूपगत विकास अद्वैत-वेदान्त से लगभग विरोधी दिशा में यह हुआ कि सन्तों ने जगत् को उसकी नश्वरता सहित सत्य माना तथा अद्वैत भावना की ज्ञानाश्रित अवधारणा को प्रेममूलक आधार दे दिया। उन्होंने मानव को जीवन का उपभोग करते हुए इसका अतिक्रमण करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार सन्तों का उद्देश्य मानव को जगत् से मुक्त करना नहीं था वरन् उन्होंने मानव को इस नश्वर संसार को खुली आँखों तथा खुले मन से स्वीकार करने का उपदेश दिया। मानव का लक्ष्य नश्वरता के प्रति सजग रहते हुए जीवन के सुख-दुख का उपभोग करना हो गया। इस प्रकार सन्तों ने जीवन की उपभोग्यता तथा नश्वरता दोनों को एक नये समीकरण के रूप में स्वीकृत किया। उन्होंने नश्वर जीवन का लक्ष्य शुभ तथा सदकर्म को माना।<sup>122</sup> इसी सन्दर्भ में हमने मानव स्वातन्त्र्य परक चेतना को देखने का प्रयास किया।

### 1.3.3.7 नाथ सम्प्रदाय

नाथ-सम्प्रदाय ने मानव के आचरणात्मक विकास पर आर्थिक बल दिया। जिसमें गीत संयम, साधना, विरक्ति आदि गुणों का व्यवधान कर इन्हें मानव जीवन में उतारने का उपदेश दिया गया। सन्त साहित्य में इस विचारधारा का विकास

---

122. कबीर ग्रन्थावली पृ० 142/36

मनोवैज्ञानिक धरातल पर अधिक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में हो गया अर्थात् सन्तों ने इन मानवीय गुणों का मात्र व्याख्यान ही नहीं किया अपितु इसे “आवरण में उतार कर एक आन्तरिक रूपाकार दे दिया।”<sup>123</sup> मानव को चारित्रिक दुर्बलताओं से उन्मुक्त करने के लिए यह एक साकारात्मक प्रयास था। मानव स्वस्थ मानसिकता से जुड़ कर सामाजिक तथा व्यक्तिगत प्रगति में सहायक हो। इस निष्कर्ष पर पहुँचना इस चिन्तन का ध्येय था। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय के आचरणात्मक नियमों के माध्यम से मानव व्यक्तित्व के उत्कर्ष की प्रविधि को संतों ने कार्मिन्वत किया। मानव स्वातन्त्र्य परक चिन्तन ही नाथ सम्प्रदाय का ध्येय है।

#### 1.3.3.8 सिद्ध शाक्त कापालिक अन्तर्धारा

सिद्धों, शाक्तों तथा कापालिकों ने काम सम्बन्धी दैहिक साधनाओं में मानव स्वातन्त्र्य को तलाशने का प्रयास किया। उन्होंने काम सम्बन्धों के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण न अपनाकर इन सम्बन्धों को गहराई से अनुभव किया तथा इस अनुभवजन्य गहनता से इस काम सम्बन्धों का अतिक्रमण कर उन्हें वंशाचित कर दिया। मध्यकाल में चिन्तन की इस परम्परा ने सामाजिक आचरण तथा चिन्तन में अनेक विकृतियाँ उत्पन्न कीं। सामन्तीय शासन व्यवस्था में इस चिन्तन को प्रश्रय मिला। किन्तु बदलती सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप चिन्तन में भी विकास हुआ। सन्त साहित्य में यह विकास स्पष्टतः रेखांकित किया जा सकता है। सिद्धों, शाक्तों तथा कापालिकों की कोरे काम सम्बन्धों पर आधारित साधना के स्थान पर संयमित तथा सामाजिकृत काम सम्बन्धों को स्वीकृति मिली। “इस प्रकार सन्तों ने कोरे काम सम्बन्धों का निषेध

कर तथा विवाहादि के रूप में काम सम्बन्धों को सामाजिकृत सम्बन्धों को स्वीकार कर इन्हें मानव स्वातन्त्र्य में साधन माना।<sup>124</sup>

### 1.3.3.9 भक्ति आचार्य अन्तर्धारा

मध्यकालीन भक्ति आचार्यों ने सगुण भक्ति की पूर्वपीठिका में प्रेममूलक भक्ति का वीजारोपण किया। मानव को समस्त अव्यवहारिकताओं से स्वतन्त्र करने में ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव बोध है। आचार्यों की ऐसी मान्यता थी। आचार्यों की प्रेममूलक वैष्णव भक्ति ने समस्त भक्ति साहित्य में वैष्णव प्रेम भाव की अभिव्यक्ति है। नाथ परम्परागत शुष्क हठयोगिक साधनाओं के साथ वैष्णव प्रेम भाव से नये भक्ति भाव को जन्म दिया। सन्तों के लिए प्रेममूलक निर्गुणोपासना मानव स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति महत्त्व तथा सशक्त माध्यम बन गई। सन्तों ने भक्ति को ही मानव स्वातन्त्र्य स्वीकार किया है।

### निष्कर्ष

वास्तव में हम यह कह सकते हैं कि वैदिक अन्तर्धारा से लेकर भक्ति आचार्यों तक की दर्शनगत मान्यताओं का स्वरूपगत विकास सन्त साहित्य में उत्तरोत्तर हुआ है। दर्शन की वैज्ञानिक अवधारणाओं में अनुभूति नामक तत्त्व जोड़ने का श्रेय सन्त-साहित्य को है। भारतीय दर्शन की सुदृढ़ नींव पर मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का भवन निर्मित है। सन्त साहित्य के दर्शन की सिद्धान्त प्रधान अवधारणाओं में मानवीय संवेदनाएँ चुनने का अथक प्रयास किया। उनका चिन्तन सर्वाधिक मानव केन्द्रित रहा

इसलिए सन्तों ने चिन्तन धाराओं को मानव स्वातन्त्र्य के अनुकूल भावमय तथा प्रेमपूर्ण बनाने का भरसक प्रयास किया। इसी सन्दर्भ में सन्त साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य को देखा गया है।

## द्वितीय अध्यायः मानव स्वातन्त्र्य के घटक तत्त्व

- 2.1 मानवाधिकार चेतना
- 2.2 मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा
- 2.3 रुढ़िबद्धता से मुक्ति
- 2.4 बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति
- 2.5 निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा
- 2.6 सामाजिक ममानता एवम् व्यंग्य हेतु निर्भीक-  
मनोगठन
- 2.7 वैश्विक सत्य की मानव केन्द्रित पुनर्व्याख्या
- 2.8 जातीय, साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत बन्धन मुक्ति

## 2. मानव स्वातन्त्र्य के घटक तत्त्व

मानव स्वातन्त्र्य की दृष्टि से मानवाधिकार चेतना, मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा, रुढ़िबद्धता से मुक्ति, बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति, निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा, सामाजिक समानता एवम् व्यंग्य हेतु निर्भीक मनोगठन, वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या एवम् जातीय, साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत बन्धन मुक्ति जैसे घटक तत्त्वों को व्याख्यायित करके उन्हें सन्त साहित्य में मानव-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से देखने का हमारा प्रयास रहेगा।

### 2.1 मानवाधिकार चेतना

स्वतन्त्र भारत में हर मानव भी स्वतन्त्र है। वह कोई भी कार्य करे, किसी भी ढंग से जीवन यापन करे वह अपने अधिकारों को पाने के लिए स्वतन्त्र है। उसे स्वतंत्र चिंतन का अधिकार प्राप्त है। कोई इन्सान जाति के कारण छोटा बड़ा नहीं होता उसे जाति के आधार पर हम छोटा-बड़ा नहीं कह सकते। लोकतांत्रिक युग में हर व्यक्तियों को समान मताधिकार प्राप्त है।

“समान अवसर और समान अधिकार ही समाजवाद के आधार स्तम्भ हैं। यह समझना भ्रामक है कि समान अवसर देने से प्रोत्साहन का अभाव होगा और कोई भी उद्यम के प्रति इतना सचेष्ट नहीं रहेगा जितना कि वह आज अवसर बनाने या निकालने के लिए करता है समान अवसर से हमारा तात्पर्य यही है जाति, वर्ग, पेशा, जन्म अथवा विरासत के आधार पर किसी को उपयुक्त अवसर से वंचित न किया जाये। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता, क्षमता, कार्य कुशलता और अध्यव्यवसाय को पूरी तरह आजमाने का अवसर मिलना चाहिए।”<sup>1</sup> इस प्रकार हम कह सकते हैं

---

1. विजेन्द्र स्नातक, चिंतन के क्षण, लोकतांत्रिक समाज और साहित्यकार पृ० 107



कि मानवाधिकार चेतना संसार की सबसे मूल्यवान वस्तुओं में से है और इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि उसके संरक्षण के लिए चिरकाल से कितने भारी प्रयत्न हुए हैं और आज भी हो रहे हैं। मानव कभी किसी प्रकार की परतंत्रता स्वीकार नहीं करना चाहता। वह सदैव स्वतन्त्र रहना चाहता है। यह स्वतन्त्रता शारीरिक और मानसिक दोनों तरह की होती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत का हर नागरिक स्वतन्त्र है। अतः वह अपनी भावनाओं विचारों आदि पर किसी का बन्धन नहीं स्वीकारता। आधुनिक युग में भी मानव-स्वातन्त्र्य की भावना मानवाधिकार चेतना के प्रति व्यक्त हुई है। जिस पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रभाव पड़ा है। अस्तित्ववाद के अनुसार “मनुष्य अपने विषय में सोचने, समझने, जानने निर्णय लेने और कार्य करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र हैं। कोई भी सोचता समझता है और क्या निर्णय लेकर कार्य करता है। इस सबके लिए वह पूर्ण स्वतन्त्र है। उसके चयन में किसी अन्य व्यक्ति को हस्तक्षेप करने का बिल्कुल कोई अधिकार नहीं है। यदि कोई भी व्यक्ति किसी भी मनुष्य के अधिकारों और निर्णयों के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करता है तो उसे यह बात सहन नहीं हो सकती।”<sup>2</sup> वास्तव में अगर देखा जाए तो स्वतन्त्रता जन्म सिद्ध अधिकार है। मानव ही नहीं, पशु-पक्षी भी उसके नष्ट हो जाने पर दुःखी होते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के परिणामों पर देखें तब यह बात सामने आती है कि उस समय पूँजीपतियों ने शोषण का चक्र बड़ी निर्ममता के साथ चलाना प्रारम्भ किया। औद्योगिकीकरण के द्वारा बड़े-बड़े कल-कारखाने खड़े होने लगे और मजदूरों के

---

2. डॉ० लालचन्द गुप्त 'मंगल' नयी कहानी पर अस्तित्ववाद का प्रभाव पृ० 152

शोषण की प्रक्रिया सामान्य पद्धति बन गई। खेत और खलिहान में पसीना बहाने वाला किसान तो शोषण चक्र में पिस ही रहा था। अब कल-कारखानों, मिलों और खदानों में खून-पसीने से उत्पादन बढ़ाने वालों का पीड़न और दलन शुरू हुआ। प्रगतिवादी कवियों ने इस पीड़न और शोषण पर जमकर प्रहार किया।<sup>3</sup>

अतः हम कह सकते हैं कि मानव के अधिकारों की समानता एक महत्त्वपूर्ण मूल्य है क्योंकि समाज में कोई भी प्राणी किसी से छोटा अथवा बड़ा-बड़ा नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार सोचने, समझने कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। प्रजातन्त्रात्मक पद्धति में प्रजा को समानाधिकार प्राप्त होना अनिवार्य है। “निम्न-मध्यवर्ग की दयनीय आर्थिक एवम् सामाजिक स्थिति का वर्णन करते समय इन कवियों के अन्तर्मन में उस प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति और संविधान का विचार प्रबल हो उठता है जिसमें समस्त प्रजा को समानाधिकार दिया गया है।”<sup>4</sup> मध्यकाल में सन्त कवियों ने जब धरती पर दुःख-दैन्य, अत्याचार पीड़ा, वेदना, शोषण, अन्धविश्वास, रुढ़िवादिता, परम्परा मोह सामाजिक वैषम्य जाति-पाति की संकीर्णता, छुआछूत अज्ञान आदि सब ऐसे अवरोध देखें जो समाज को प्रगति पथ पर बढ़ने नहीं देते थे। इन अवरोधों पर प्रहार करना, व्यक्ति तथा समाज दोनों स्तरों पर हेय ठहराना तथा आन्दोलन के रूप में मानवाधिकारों के प्रति लड़ना सन्त कवियों का ध्येय था। उस समय भक्ति का अधिकार भी केवल ब्राह्मणों को था तथा वे भगवान को अपनी पकृक सम्पत्ति समझते थे। अन्य वर्णों में क्षत्रियों और वैश्यों को भी भक्ति

---

3. विजेन्द्र स्नातक, विमर्श के क्षण, हिन्दी काव्य में प्रगतिवादी चेतना पृ० 134

4. विजेन्द्र स्नातक, विमर्श के क्षण, स्वांत्र्योत्तर हिन्दी कविता की दिशा दृष्टि पृ० 133

का अधिकार था, लेकिन ब्राह्मण अपने आप को इसका मुख्य दावेदार मानते थे। सन्त कवियों ने भक्ति का अधिकार सभी जीवों को समान रूप से दिया, चाहे वो किसी भी जाति का हो।

सन्त कवियों ने तत्कालीन युग में परम्परा से चले आ रहे सामाजिक अन्याय के परिणामस्वरूप तत्कालीन परिस्थितियों में हो रहे ध्वस्त भारतीय समाज के सामने सामाजिक समता तथा धर्म और भक्ति के क्षेत्र में प्रत्येक मानव को समान अधिकार की बात कहकर नवयुग की सबसे बड़ी आवश्यकता का उद्घोष किया।

## 2.2 मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा

मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा मानव स्वातन्त्र्य का सबसे सबल पक्ष है। विचारों की उदारता का मूल स्रोत भी यही है। धर्म, जाति और रंग की संकुचित सीमा से अलग हटकर मानव का केवल मनुष्य के रूप में मूल्यांकन करना विश्वव्यापी आधुनिकता है। किसी भी प्रकार की कट्टरता के कारण मानवीय गरिमा पर प्रहार करना सिद्धान्त रूप में आज हर सभ्य समाज में अनुचित माना जाता है। रंगभेद के आधार पर दमन की दक्षिण अमेरिकी प्रवृत्ति अथवा इयान स्मिथ कट्टरता, धर्म के आधार पर होने वाले भारत-पाकिस्तान के पाश्विक साम्प्रदायिक दंगे, राजनीति के नाम पर रूस या स्पेन में होने वाले दमन की निंदा विश्वव्यापी स्तर पर हुआ करती है। आज हर सम्प्रदाय और तंत्र कम से कम ऊपरी तौर पर, मानवीय विचार स्वतन्त्र्य और समानता का समर्थन करता है। पिछली शताब्दी से प्रजातंत्र के प्रति संसार के झुकाव का कारण यही विचारधारा है। साम्यवादी व्यवस्था मानव को स्वतन्त्रता नहीं देती किन्तु अंततोगत्वा वह भी मानव की गरिमा से प्रतिबद्ध है। वर्गभेद के आधार

पर होने वाली क्रूरता को समाप्त करके औसत मनुष्य को जीवन की अधिकतम सुविधाएँ समान तौर पर प्रदान करना ही उसका उद्देश्य है।

मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा मानव स्वातन्त्र्य की दृष्टि से आधुनिक युग का केन्द्रीय विचार है। अतः मानव और समाज के सम्बन्धों पर आज सबसे अधिक सोचा जाता है। “आधुनिक मानव आज समाज पर आश्रित होने की नियति के प्रति सर्वाधिक जाग्रत हो गया। समाज की अधीनता इतिहास में एक वरदान थी किन्तु आधुनिक समाज में अभिशाप बन गई है क्योंकि उसके प्राकृतिक अधिकार तथा आर्थिक अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है।”<sup>5</sup> स्वच्छन्द रूप से जन्म लेने वाला मानव स्वयं को अनेक सामाजिक बन्धनों में आबद्ध पाता है। सार्त्र आदि ने इसे मानव नियति कहा है। यद्यपि ये बन्धन समाज को व्यवस्था प्रदान करते हैं और मानव-व्यक्तित्व के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं तथापि व्यक्ति को महत्त्वहीन नहीं माना जा सकता। वस्तुतः व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। परन्तु परम्परागत सामाजिक विचारधारा के सन्दर्भ आदर्शवादी और आंगिक सिद्धान्त के समर्थकों ने समाज को लक्ष्य या उद्देश्य मानते हुए, व्यक्ति को निमित्त मात्र स्वीकार किया है। वे व्यक्ति को सामाजिक परिवेश से भिन्न ग्रहण नहीं कर पाते। समाज से पृथक, व्यक्ति स्वातन्त्र्य में उनका विश्वास नहीं है। इस दृष्टि में समाज सर्वोपरि है। इस प्रकार अब तक ‘मानव’ अपने मौलिक रूप में नहीं, वरन् सामाजिक परिपेक्ष्य में ही चित्रित हुआ है। किन्तु आधुनिक मानव ने अपनी गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष आरम्भ कर दिया है। इसकी पृष्ठभूमि में व्यक्ति स्वातन्त्र्य चेतना कार्यरत है।

---

5. डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण पृ० 283

आधुनिकता के अभ्युदय के पूर्व भारतीय-समाज में मनुष्य का अपने व्यक्ति रूप में कोई स्थान नहीं था। समाज में कतिपय इस प्रकार के विधान बने हुए थे कि जन्म लेते ही व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का भावी रूप निर्णीत हो जाता था। जन्म के साथ ही जाति, समाज, धर्म और विभिन्न परम्पराएँ व्यक्ति को विरासत में मिलते थे। इस आबद्ध जीवन में परम्परा से पृथक् होकर विचारने का मानव को अवकाश ही नहीं था, और न ही इसकी आवश्यकता समझी जाती थी। किन्तु आधुनिक जीवन के प्रवाह में मानव के सामाजिक बन्धन शिथिल हुए और मानवीय गरिमा के प्रतिष्ठित होने के नवीन अवसर उपलब्ध होने लगे। स्वतन्त्र चिंतन ने मानव को नई दिशाएँ दी। उसके समक्ष पूर्व निर्धारित विधि-निषेधों की श्रृंखलाएँ टूटने लगीं।

नवीन युग के वैज्ञानिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में व्यक्तिवाद का विकास हुआ। व्यक्तिवादियों ने मानव को लक्ष्य और समाज को निर्मित सामाजिक संगठन का निर्माण किया। अतः समाज यदि मानव के उद्देश्य की पूर्ति में असमर्थ और असहाय रहता है तो मानव में समाज-व्यवस्था का उल्लंघन तथा विध्वंस करने का साहस उपजना सहज ही है।

मानवीय गरिमा को ह्यस के प्रश्न पर यदि दृष्टिपात करें, तब डॉ० धर्मवीर भारती का कथन महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। उनकी मान्यतानुसार कला-कला के लिए सिद्धान्त वालों ने नैतिक अनैतिक कुछ न मानकर मानवीय गरिमा का ह्यस कर दिया और ऐसे मानव को कला में प्रस्तुत किया जो समस्त सामाजिक संदर्भों से रहित हो गया। मानवीय गरिमा के ह्यस का एक कारण मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद भी रहा। मार्क्स के बाद सबसे अधिक प्रभावशाली पश्चिमी चिंतन फ्रायड ने मनोविश्लेषण

द्वारा मानव को विवेकरहित एवम् संकल्पहीन मनुष्य निरूपित किया। समस्त युरोपीय चिंतन ने किसी न किसी रूप में किसी ऐसे तत्त्व को स्थापित किया है। जिसकी आधारशिला विवेक और अंतरात्मा के अभाव के कारण दिखाई देती है। डॉ० धर्मवीर भारती मानवीय गरिमा की विवेचना के संदर्भ में उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के साहित्य की चर्चा करते हुए मार्क्सवाद, द्वारा मानव की स्वतन्त्रता के अपहरण की निन्दा करते हैं। क्योंकि वह “मनुष्य की स्वाधीनता और व्यक्ति के महत्त्व की पूर्णतया उपेक्षा करता है।”<sup>6</sup> मानवीय गरिमा की परम्परा के बीज मध्यकालीन युग में भी दिखाई देते हैं। बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, तंत्र, साधना, वैष्णव भक्ति साधना, नाथ, सिद्ध, इस्लाम तथा सूफी मत में मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा देखने को मिलती है। अतः हम अपने विवेकपूर्ण निर्णय एवम् साहसपूर्ण आचरण से इस परम्परा को बचा सकते हैं। जब हिरोशिमा पर पहला अणुबम गिरा तब अकस्मात् अनुभव हुआ कि अब तक तो इतिहास की चुनौती को अनसुनी करते रहे, पर अब अनुसुनी न कर सकेंगे। “यहीं से नये संवेदनशील लेखक प्रयोगवादी काव्यधारा से जुड़े हुए, हिन्दी के नये कवि। नये मानव की प्रतिष्ठा, में मुड़े अर्थात् ये सभी कवि एवम् लेखक इस बात की कोशिश करने लगे कि मनुष्य को स्वतन्त्र, सचेत, दायित्वयुक्त माना जाये, जो अपनी नियति, अपने इतिहास का निर्माता हो सकता है। इसके लिए उसके विवेक और मनोबल को सर्वोपरि और अपराजेय माना जाए।”<sup>7</sup>

लोकमान्य तिलक का स्वर सारे राष्ट्र में गूँज उठा था कि स्वतन्त्रता हमारा जन्म

6. डॉ० हेमेन्द्र कुमार पानेरी, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, मूल्य संक्रमण पृ० 146

7. डॉ० धर्मवीर भारती, मानव-मूल्य पृ० 48

सिद्ध अधिकार हैं। मुटठी भर हड्डियों वाले व्यक्ति गांधी ने इतनी बड़ी साम्राज्यवादी सत्ता को अपने 'विवेक और मनोबल' द्वारा चुनौती देते हुए "भारत छोड़ो की चुनौती दी थी। प्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटक के चाणक्य के स्वतन्त्र, सचेत, दायित्वयुक्त व्यक्ति तथा मानवीय विवेक और मनोबल; को सर्वोपरि और अपराजेय मानने वाले सिद्धान्त इस तथ्य के सशक्त प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त अनेक कवियों ने मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में अपने विचारों से अवगाहित किया है।

मानवीय गरिमा की वास्तविक प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि कोई दूसरे से बड़ा नहीं होता। यदि किसी की गरिमा में हमारी गरिमा बाधक है तो हम किसी यथार्थ के धरातल पर खड़के होकर वस्तुस्थिति का आकलन कर रहे होते हैं। नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि तमाम धरातलों पर इस स्वातन्त्र्य की स्थापना के लिए निरन्तर संघर्षशील रह कर ही इसकी स्थापना का प्रयास हो सकता है। मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए अन्यतम् तथ्य भी विचारणीय है कि हम मानव मात्र की नियति से अपने को आबद्ध समझे। केवल निजी स्वतन्त्रता या सामान्य मानवीय नियति का अतिक्रमण कर सीधे किसी आलौकिक सत्ता से साक्षात्कार कर पूर्णता की साधना भी अन्तरात्मा के रक्षण और सामान्य मानवीय गौरव की उपेक्षा का द्योतक है। साथ ही वे सब सिद्धान्त जो मानव नियति को पूर्व निर्धारित मानते हैं, वे मनुष्य से विकल्प की स्वतन्त्रता और संकल्प की गरिमा छीन लेते हैं क्योंकि फिर मानव के अपने निर्णय का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। अपने विवेक की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। वह केवल एक भारवाही पशु के समान अपना सहयोग दे सकता है। हम अपनी अन्तरात्मा से निर्देशित होकर अपने विवेकपूर्ण आचरण द्वारा

जिस अंश तक उस नियति का साक्षात्कार करते हैं, उसी अंश तक मानव नियति वास्तविक होती है। इसलिए प्रगति की जो धारणा पिछली दो तीन शताब्दियों से प्रचलित रही है वह आज के सन्दर्भ में सार्थक नहीं हो सकती। उन धारणाओं के अनुसार प्रगति एक ऐसी प्रतिक्रिया है जो मनुष्य के बाहर, उससे स्वाधीन घटित हो रही है, उसके विरोधी शिविर में हैं। यह खण्डित युद्ध जनित दृष्टि है जिसकी मूल प्रेरणा है - राजनैतिक जो अन्ततोगत्वा आन्तरिक भी हो सकती है। प्रगति मनुष्य से निरपेक्ष नहीं है, वह उससे आबद्ध है, उसका निर्णायक तत्त्व वह स्वयं है। इसलिए प्रगति प्रसंग में मानवता की स्थापना ओर मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा अन्योन्याश्रित है, अविच्छिन्न मूल्य है। इसे समझ कर इसी दिशा में अन्तरात्मा की पुनःप्रतिष्ठा इस आसन्न संकट से मानव मात्र का उद्धार कर सकती है। विवेक और साहस का मार्ग दस्तर अवश्य है किन्तु मानवीय मूल्य के प्रति प्रत्येक शिविर और प्रत्येक धारा में उतर कर आने वाली आस्था इस स्थापना को सिद्ध करती है। इस संकट में भी मानव द्वारा नहीं है बल्कि उसने उसका प्रत्युत्तर दिया है और प्रतिदिन उसने और भी सशक्त स्वयं में घोषित किया है कि वह प्रगति का सूत्र है और इतिहास का निर्माता है। अतः मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित करने और उसकी निरन्तर रक्षा करने के प्रति हमारी जागरूकता ही हमारी जाग्रत अन्तरात्मा का प्रमाण है। मानवीय विवेक अन्तरात्मा के सहायक तत्त्वों में सम्भवतः सबसे प्रमुख और सबसे विश्वसनीय है।

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि मानवीय गरिमा का अर्थ यह है कि मानव को स्वतन्त्र, सचेत, दायित्व युक्त माना जाये जो स्वयं अपने इतिहास का निर्माता हो। इसके लिए उसका विवेक और मनोबल को ही सर्वोपरि है। अतः मनुष्य



को मनुष्य के रूप में महत्त्व देना और उसकी अद्वितीयता को स्वीकार करना और उसे विविध कट्टरों में विभाजित न करना मानवीय गरिमा का अभिप्राय है। मानवीय गरिमा एक प्रकार की आरोपण मुक्त दशा है। जिसमें मनुष्य की विकासशील संभावनाएँ निर्विवाद रूप से अवसर पर सके।

### 2.3 रुढ़िबद्धता से मुक्ति

समाज में प्रचलित ऐसी रुढ़िया जो दिन प्रतिदिन अधिक सार्थकता की ओर अग्रसर होने वाले जनजीवन को तर्कसंगत नहीं लग पाती, या सामाजिक मान-मर्यादाओं का ऐसा शिंकजा जो व्यक्ति को कभी न्याय नहीं दे पाता। ऐसी रुढ़िबद्धता से मानव मुक्ति चाहता है। समाज संगठन के मूल में मानव पारस्परिक सहयोग द्वारा सुख-सुरक्षा पूर्वक जीवन यापन की प्रवृत्ति रही है अतः एक ओर जहां मानव पर समाज के सुचारु-संचालन में सहयोग का दायित्व है। दूसरी ओर वह समाज से सुख समृद्धि न अन्य हितों की सुरक्षा की अपेक्षा भी करता रहा है इस प्रकार मानव समाज का आन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सामाजिक व्यवस्था का आदर्श रूप वह है जहाँ एक दूसरे की सुविधा का ध्यान रखते हुए दोनों प्रतिगामी परम्पराओं व नियमों की नींव डाली जाती है। और मानव से उपेक्षा की जाती है कि वह अपने ही हित के लिए उनके अनुरूप आचरण करे। धीरे-धीरे यह नियम व्यवस्था रूढ़ एवम् विकृत हो जाती है। समाज का केन्द्र मानव नहीं रहता अपितु कुछ प्रभावशाली व्यक्ति ही सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र बन जाते हैं तथा समाज की बागडोर उन्हीं व्यक्तियों के हाथों में आ जाती है। परिवर्तित समय एवम् परिस्थितियों में भी समाज मानव को जड़-रूढ़ नियमों से ही पारिचालित करना चाहता है फलतः मानव विद्रोह करता है वह उन

रूढ़ मान्यताओं के रूप में जो हमारे समाज में अनेक रीतियों परम्पराओं, धारणाओं में विद्यमान हैं उनसे मानव मुक्त होना चाहता है। लेकिन हमारा समाज उन रुढ़ियों को उसी तरह से चिपटाए है जिस तरह एक बंदरिया अपने मरे हुए बच्चे को छाती से चिपटाए घूमती है। धार्मिक परम्पराओं और विश्वासों का यह धिनौना रूप जो रुढ़ियों ने ग्रहण किया हुआ है निस्सन्देह हमारे समाज के शरीर पर वह बदनुमा दाग है जिससे छुटकारा पाये बिना समाज में मानव की स्वतन्त्रता संभव नहीं।

अब भी भारतीय जनता का एक बड़ा हिस्सा रुढ़ियों की गिरिफ्त में है। इसलिए वैज्ञानिक युग में भी अधिकांश जनता के बीच राजनैतिक सामाजिक चेतना का विकास नहीं हो पाया। ये स्थितियाँ जहां व्यक्ति को घोर यथास्थितिवादी बना देती है वहीं सत्ता इन्हें अपने ढंग से इस्तेमाल भी करती है तथा पूँजीवादी ताकतें भी इन रुढ़ियों को पुष्ट करके अपना हित साधती है। अतः रुढ़ियाँ समाज में प्रचलित ऐसी धारणाएँ, मान्यताएँ, परम्पराएँ एवम् रीति-रिवाज हैं, जिनका सवैधानिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं होता लेकिन समाज में रहने वाले सभी प्राणियों पर इनकी अमिट छाप रहती है। सभी इसका पालन करना अपना प्रनीत कर्तव्य समझते हैं। इन धारणाओं, परम्पराओं एवम् रीति-रिवाजों की जो भी व्यक्ति अवहेलना करने की चेष्टा करता है उसे समाज से वहिष्कृत करके दण्डित किया जाता रहा। हिन्दू समाज में परिव्याप्त विवाह सम्बन्धी रुढ़िबद्धता, धार्मिक रुढ़ियाँ, कुरीतियाँ, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, हिन्दू और मुसलमानों के विविध रीति-रिवाजों और पशु हिंसा आदि इसी प्रकार की रुढ़ियाँ हैं जो किसी समय सार्थक समझी जाती थी और इनका पालन करना सभी सामाजिक प्राणी अपना धर्म समझते थे परन्तु जैसे-जैसे मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा का प्रश्न उभरा मानव

मनने अपने विवेक को प्राथमिकता दी और मानव सोचने पर विवरा हो गया कि यह सभी रुढ़ियाँ, मान्यताएँ, परम्पराएँ एवम् रीति-रिवाज आदि का मानव जीवन में कोई महत्त्व नहीं है। अतः मानव ने इन सबका खुलकर विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप एक सशक्त तथा स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए ऐसी विचारधारा का विकास जाना सहज हो गया।

मध्यकाल पर यदि दृष्टिपात करें तो यह बात हमारे सामने आती है कि तत्कालीन समाज आर्थिक वैषम्य, राजनीतिक एवम् धार्मिक विद्रूपताओं से पीडित था। यही कारण था कि उस युग के अधिकांश कवियों ने धर्म एवम् समाज के ठेकदारों, पण्डितों एवम् पुरोहितों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया। उन्होंने समाज में व्याप्त प्राचीन खोखली मान्यताओं का विरोध किया तथा सामाजिक बुराई के रूप में चली आ रही परम्पराओं को तोड़ने का भरसक प्रयास किया। इस सन्दर्भ में ईश्वर के स्थान पर मानवीय विवेक और बुद्धि को केन्द्रित किया गया। सन्त कवियों ने जातिवाद के नाम पर समाज में सामाजिक आडम्बरों के प्रति विद्रोह किया तथा जर्जरित सामाजिक बुराईयों को दर्शाते हुए मानवीय अस्तिक को महत्त्व प्रदान कर पुरातन रुढ़ियों परम्पराओं, धारणाओं आदि से मुक्त होने के लिए मानव को स्वातन्त्र्य-चेतना प्रदान की।

कालांतर में रुढ़िबद्धता से मुक्त होने के आर्यसमाज ने विधवा-विवाह का समर्थन किया, बाल विवाह का विरोध किया तथा धार्मिक रुढ़ियों एवम् अन्धों परम्पराओं को समाप्त धर्म का ऐसा स्वरूप प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया, जो पश्चिमी सभ्यता की चमक-दमक से प्रभावित उच्च-शिक्षित एवम् बुद्धिजीवी वर्ग का भी

समर्थन प्राप्त कर सके और वे विधर्मों न होने पाए। आर्यसमाज ने कभी मूर्ति पूजा का समर्थन नहीं किया और नारी शिक्षा के प्रसार में अपनी सारी शक्ति लगा दी, साथ ही उसे उनके राजनीतिक एवम् सामाजिक अधिकार दिलाने के भी प्रयास किये। यह एक क्रान्तिकारी कार्य था। उसने पतनोन्मुख समाज को सुधार, नव निर्माण एवम् रुढ़िमुक्त रूप में प्रगतिशीलता की ओर दिशोन्मुख किया। व्यक्तिवाद भी मानव को स्वतन्त्र मानते हुए रुढ़ियों का खण्डन करके वैयक्तिकता पर बल देता है। उन्नीसवीं शताब्दी में परम्परा रीति-रिवाज तथा धर्म के नाम पर रुढ़िया व्याप्त थी जिससे मानव स्वतन्त्र होकर समाज में अपना स्थान प्राप्त करना चाहता था।

भारतीय संस्कृति को नष्ट कर भारतीयों को अंग्रेजी साँचे में ढालने का कार्यक्रम लेकर आधुनिक शिक्षा आरम्भ हुई थी। ऐसे समय में रुढ़ियों से बंधा शिक्षित वर्ग स्वतन्त्रता पाने के प्रयत्न करने लगा। यही समय ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार के लिए भी उपयुक्त था। भारतीय समाज में धर्म परिवर्तन की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। मानव स्वातन्त्र्य की चेतना से आकर्षित होकर शिक्षित वर्ग ईसाई बनने लगा। इस ध्वंसकारी स्थिति में भारतीय चिन्तकों ने भारतीय धर्म एवम् संस्कृति को समयानुकूल स्वरूप प्रदान करने के लिए विविध आन्दोलनों को जन्म दिया। “इन आन्दोलनों के मूल में मानव स्वातन्त्र्य और सामाजिक समानता के भाव थे।”<sup>8</sup> पारस्परिक रुढ़िबद्धता से मुक्ति पाने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजी शासन ने समाज-सुधार के दृष्टिकोण से दास-प्रथा, सती प्रथा, बाल हत्या आदि का निषेध करने के लिए कुछ कानून बनाए। हिन्दू समाज ने इन रुढ़ियों से मुक्त होने के लिए आन्दोलनों के

---

8. डॉ० धर्मवीर भारती, मानव-मूल्य पृ० 50

माध्यम से इन सुधारों को क्रियान्वित किया।

#### 2.4 बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति

आधुनिकता का सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण है तर्क का आधार। इस युग का आरम्भ 15वीं शताब्दी के नवजागरण से माना जाता है। सबसे पहले आधुनिकता ने धर्म के क्षेत्र में क्रान्तिकारी विचारधारा का प्रतिपादन किया। इस युग में दैवी सत्ता के स्थान पर तर्क के सर्वव्यापी प्रसार ने मानवीय चिंतन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। आधुनिकता उस स्थिति में ही निहित है जहाँ प्रश्नों की निरंतरता है। आज सभी बातें सिद्धान्त व चिंतन तर्क पर ही आश्रित हैं। जब से सम्बन्ध में भौतिकता तथा अर्थ तत्त्व का प्रभाव पड़ना आरम्भ हुआ है, तब से मानवीय सम्बन्ध भी तर्क पर आधारित होते गए हैं।

आधुनिकता की प्रक्रिया का एक और पक्ष भी मुखर हुआ है। इसे सर्वांग सचेतनता कहा गया है। इसमें “भावों की बौद्धिकीकरण और बौद्धिकता का मानवीकरण होता है।”<sup>9</sup> यही तत्त्व आधुनिकता की प्रक्रिया में मूल्यगत नवीनता प्रतिष्ठित करता है और उसे एक सचेत सत्ता के रूप में स्थापित करता है। “यह सर्वांग सचेतनता किंवा सचेत सत्ता एक ऐसी मानसिक बौद्धिक स्थिति है जो समकालीन परिवेश की जटिल मानसिकता से उदित होती है और उसे आधुनिकता का संस्कार देती है।”<sup>10</sup> इसका चेहरा-मोहरा अनिवदित जातीय संस्कारों का रहता है। इस प्रकार आधुनिक भाव-बोध कोई संदर्भ च्युत जीवन मूल्य नहीं, प्रत्युत संक्रमण की टकराहट

9. डॉ० धर्मवीर भारती, मानव-मूल्य पृ० 21

10. A.R. Desai, Social back Ground of Indian nationalism p. 211

से निष्पन्न आग्नेयकण है, जीवंतता का ज्वाला कण है जो अतीत और वर्तमान के बीच की संवादहीनता को भंग कर उनमें एक लम्बे सुदीर्घ संवाद का मंच प्रस्तुत करता है।<sup>11</sup>

आज के वैज्ञानिक युग में रहता हुआ मानव बौद्धिक स्तर पर पुरातनता का सामना करता है और नये का अन्वेषण करता है। इसी सन्दर्भ में वह आधुनिक होता जाता है। आधुनिकता अपने साथ ऐसे विचार और चिन्तन लाई है जिन्होंने मानव-जीवन को मध्यकालीन रुढ़ियों, अन्ध-विश्वासों और तद्जन्य विकृतियों से मुक्त कर मानव-स्वातन्त्र्य और समाज निर्माण में एक नये धरातल पर प्रतिष्ठित किया। वैज्ञानिक जीवन दृष्टि के कारण वह अपनी मानसिकता में हर बिन्दु को स्पष्ट कर उसे ग्रहण करता है। वह अपने सामने निरन्तर चुनौतियों का सामना करता है। वह वस्तु को भावना के बल पर न तौल कर बुद्धि व तर्क के धरातल पर परखता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिकता का वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो यथार्थ से परिचित करवाता है। विज्ञान-सम्मत दृष्टि द्वारा उन सभी मूल्यों का नव निर्माण हुआ है जिनमें बुद्धि और तर्क को स्थान प्राप्त हुआ है। वैज्ञानिक बुद्धि किसी भी तथ्य को एकदम स्वीकारने से इन्कार करती है। सामान्य जीवन में वस्तुओं और व्यवहारिक तथ्यों को स्पष्ट किया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सम्बन्धी विषयों पर नवीन ढंग से विचार विमर्श हुआ। “विज्ञान से मस्तिष्क का आधुनिकीकरण हुआ है।”<sup>12</sup> आधुनिक जीवन दृष्टि खोखले मूल्यों, पूर्वाग्रहों, ईश्वर विषयक प्रचलित मान्यताओं, आर्दशों विषयक प्रचलित

11. डॉ० ममता अग्रवाल, एक और अंत, धर्मयुग, 24 जनवरी 1965 पृ० 10

12. धनंजय वर्मा (सं) समकालीन कहानी, दिशा और दृष्टि, इलाहाबाद, अभिव्यक्ति प्रकाशन, 1997, पृ० 82

मान्यताओं, आदर्शों को उसी तरह न स्वीकार कर उनका नये सिरे से तार्किक रूप से विश्लेषण करती है। यह हर एक वस्तु को संशय की दृष्टि से देखती है। इसमें कल्पना को स्वीकार न करके यथार्थ को स्वीकारा जाता है। इसमें प्रत्येक अतीत मूल्य को वर्तमान के आधार पर ही स्वीकारा जाता है। इसके मूल में निरन्तर प्रश्न चिन्ह चलते रहते हैं।

आज मानव में एक नव्य चेतना का संचार हो रहा है जिसमें वह तर्क व बुद्धि के आधार पर खड़ा है। वह मानता है कि धार्मिक रुढ़ियाँ मनुष्य के जीवन को और जटिल बनाती हैं। वह आज धर्म को प्रगति में बाधक समझता है। उन्होंने प्राचीन युग से चली आ रही खोखली मान्यताओं का विरोध किया और बुराई के रूप में चली आ रही परम्पराओं को तोड़ा। इसमें ईश्वर के स्थान पर मानवीय विवेक और बुद्धि को केन्द्रित किया गया। विज्ञान ने पूरे मानव स्वातन्त्र्य चिन्तन को एक नई दृष्टि व दिशा प्रदान की है। मानव स्वातन्त्र्य चिन्तन के बिन्दु अब तर्काधारित है। नए तर्कों ने नव मूल्यों का निर्माण किया है। धर्म, समाज, राजनीति, उद्योग, शिक्षा प्रत्येक क्षेत्र में भावुकता के स्थान पर तर्क व बौद्धिकता का तत्त्व प्रभावशाली रूप में स्थापित हो गया है। बौद्धिक एवं तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति आधुनिक युग से होती है। क्योंकि आधुनिकता मध्यकालीनता की विरोधी स्थिति है। योरप के इतिहास में नवजागरण वह सूचक बिन्दू है जहाँ से मध्यकाल समाप्त होता है। भारतीय इतिहास में नवजागरण का आरम्भ अठारह सौ सत्तावन की क्रान्ति चेतना में लक्षित होता है। हर्षवर्धन की मृत्यु से आरम्भ पराधीनता और निष्क्रियता का यह दीर्घकाल खण्ड उस समय करवट लेने लगता है जब अंग्रेजी की दासता से मुक्त होने के लिए और अपनी

नियति का स्वतन्त्र चेतना से वरण करने के लिए राजा राम मोहन राय, ब्रह्मा समाज, थियोसोफिकल सोसायटी, अखिल भारतीय कांग्रेस पार्टी आदि व्यक्तियों और संस्थाओं के द्वारा इस नवजागरण की चेतना को गति व दिशा दी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक युग का आरम्भ रिनैसां 15वीं शती से माना जाता है। इस युग में बौद्धिकता एवं तर्कशीलता का विकास होता है। सृष्टि के केन्द्र ईश्वर का स्थान मनुष्य ले लेता है। मध्यकाल में सन्त कवियों ने भी सत्य को निकट से देख लेने के कारण उनके हृदय में शंका के लिए कोई स्थान नहीं था। वे अपनी बातों को पूरी बौद्धिकता व तार्किकता से स्पष्ट कर दिखाते हैं। वे अपनी बात को पूरे विश्वास के साथ कहते हैं। इसलिए उसमें एक ऐसी दृढ़ता है जो अन्यत्र नहीं मिलती। वे चाहते हैं कि जिस सत्य को उन्होंने देख लिया, उसे दूसरे भी देखें। वे दूसरों को भी अपने धरातल तक उठाकर ले आना चाहते हैं किन्तु सन्त देखते हैं कि लोग अन्ध-परम्पराओं की धारा में बहे जा रहे हैं, विषय वासनाओं के जाल में उलझ कर कष्ट भोग रहे हैं। धरातल का यह अन्तर उनके हृदय को खीझ और क्षोभ से भर देता है। इसलिए उनके तर्क अकाट्य और सोचने को बाध्य करने वाले होते हैं। मनुष्यों को वे बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति जाति-पांति, वर्ग, सम्प्रदाय आदि में भेद-भाव रखने वाले हिन्दू व मुसलमान दोनों को तर्क के माध्यम से करवाते हैं। इसी प्रकार नंगे, फिर कर योग साधना का दम्भ भरने वालों के प्रति भी उनके तर्क अकाट्य और सोचने पर बाध्य कर देते हैं। सन्त कवियों में कबीर भी पण्डितों एवम् मुल्लाओं के सामने ऐसी-ऐसी बातें तार्किक ढंग से पेश करते थे कि पण्डित और मुल्ला दोनों हैरान थे।

## 2.5 निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा



व्यंग्यकार निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा के प्रति प्रतिबद्ध है। सत्य उद्घाटनार्थ उसे तर्कसंगत एवं सुसंगत ढंग से समाज के छिछले आदर्श, राजनीति और शासन की दुर्बलताओं को भी अनावृत करना होता है अन्यथा सत्याभिव्यक्ति अधुरी रह जाएगी। यह सत्य है स्वयं को नंगा करना सरल है पर समाज को ईमानदारीपूर्वक नंगा करना एक अग्नि परीक्षण है। डॉ० नामवरसिंह के शब्दों में स्वयं नंगा होकर घूमने में सुख हो सकता है, लेकिन सवाल तो सम्राट को नंगा कहने का है - “खास तौर से ऐसे समय जबकि सभी लोग उसे एकदम नंगा देखते हुए भी किसी भय डर से ऐसा न कह पाते हों।”<sup>13</sup> पर व्यंग्यकार की सत्याभिव्यक्ति की ललक उसे अग्नि में कूदने को बाध्य कर देती है। उसे निर्भीक बना देती है। और इस प्रकार उसकी नाकारात्मकता भी स्वीकारात्मकता बन जाती है। वह जिसे नहीं नकारता है वह ‘सत्य’ है। सत्य की स्थापना उसका लक्ष्य है। व्यंग्यकार सत्य को इंगित नहीं करता। सच आस-पास के कूड़े को कहता है कि यह असत्य है। सत्य क्या है, आप पहचान लीजिए।<sup>14</sup> तटस्थ व्यंग्य में ही वहीं आत्म व्यंग्य में भी वह ईमानदारी का पल्ला नहीं छोड़ता। आत्म व्यंग्य में व्यंग्यकार अपने बहाने, स्वयं को कुरेदने का रास्ता बनाकर ऐसी-ऐसी तीक्ष्ण अभिव्यक्तियाँ कर जाता है, जो तीक्ष्ण से तीक्ष्ण भी हो सकती है। क्योंकि व्यंग्यकार निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा चाहता है। व्यंग्यकार किसी बहाने नहीं, अपितु मात्र अपने बहाने विसंगतियों को छीलता है, दूसरों को अपने पर हंसने का मौका देकर उनमें विसंगतियों के प्रति जागरूकता पैदा करता है। वर्तमान

13. डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण परिशोध अंक 21, पृ० 46-47

14. वैज्ञानिक परिदृष्टि ( बट्टेंड रसेल ) अनुवादक-गंगारतन पृ० 43

युग में मनुष्य समाज के भीतर फैले हुए भ्रष्ट वातावरण में अपनी सत्ता खोया हुआ है। चारों ओर कलुषित वातावरण फैला हुआ होने के कारण मानव का निरन्तर पतन हो रहा है। प्रत्येक क्षेत्र में विकृतियों की छाया ही मंडराती दिखाई देती है। व्यंग्यकार तटस्थ रहकर सामाजिक विरूपताओं के प्रति उबल रहे आक्रोश को संयमित ढंग से अभिव्यंजित करता है। सामाजिक आचरण के खोखलेपन को दिखाने और सत्य का दिग्दर्शन कराना व्यंग्य का कार्य है। व्यंग्य आक्रमण की वह स्थिति है, जिसमें व्यंग्यकार प्रत्यक्ष रूप में आकर चोट नहीं करता, वह अप्रत्यक्ष रूप से प्रहार करके समस्या का समाधान करता है। व्यंग्य को पिता के समान भी कहा जा सकता है जो अपनी सन्तान का कल्याण चाहने के कारण समाज को डांटता है। व्यंग्य के सूक्ष्म प्रहार की जानकारी सम्बन्धी किसी आलोचक का कहना कि, “व्यंग्य का प्रहार उस चमकते तेज उस्तरे की तरह होना चाहिए जिसके स्पर्श मात्र से घाव भी हो जाए और पता भी न चले।”<sup>15</sup> एक अन्य आलोचक की मान्यता है कि- “व्यंग्य एक चुभता कांटा है जो वाणी-लेखनी के माध्यम से उत्पन्न होता है। यह परिवार समाज व राष्ट्र के लिए काम करता है।”<sup>16</sup> वस्तुतः व्यंग्य का उत्स वाणी से होता है। जिसके अन्तर्गत असहजीय होता है।

निर्मोह व्यंग्य का अर्थ है किसी चीज़ पर बिना किसी मोह के प्रहार करना व कटाक्ष करना। वह मानव को सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सचेत करता है। यदि प्रत्यक्ष रूप से किसी पर दोष लगाया जाए तो मनुष्य नाराज़ हो सकता है। तभी तो

---

15. नामवर सिंह, ज्ञानोदय, सितम्बर 1963, पृ० 16

16. Satire should like polioheel razar keen, wound with touch that scarcely feltor such; वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता, आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यंग्य, पृ० 16

निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा के लिए विनोद की मुलायम सलाई से अनीति की दोषयुक्त दृष्टि में अंजन लगाया जाता है।

व्यंग्य का महत्त्व मनुष्य को उसकी बुराईयों के प्रति सचेत करना व उसे सच्च इन्सान बनाने की प्रेरणा भी देना है। गिलवर्टहाईट के अनुसार- “व्यंग्य की केन्द्रीय समस्या वास्तविकता के साथ उसके सम्बन्ध की है। व्यंग्य मानव समाज को प्रकट, आलोचित और लज्जित करना चाहता है।”<sup>17</sup> एक अन्य विद्वान् जोन थनस्विफ्ट का कहना है कि- “मैं मनुष्य को अपमानित करने उसे नीचा दिखाने के लिए लिखता हूँ।”<sup>18</sup> परन्तु मार्कट्वेन, ने व्यंग्य के महत्त्व को ऐसे बताया है- “कोई भी सच्चा लेखक मनुष्य को नीचा नहीं दिखाना चाहता है वह तो मनुष्य को अधिक सच्चा, न्यायी एवं मानवीय बनाने के लिए व्यंग्य लिखता है। व्यंग्यकार मनुष्य को आलोचित कर खुश नहीं होता अपितु मानव समाज की कमजोरियों पर रोता है।”<sup>19</sup>

व्यंग्य का महत्त्व सामाजिक रुढ़ियों व कुरीतियों पर मार्मिक प्रहार करने के क्षेत्र में भी अधिक है। इन पर किया गया व्यंग्य कुनेन से भी कड़वा होता है। समाज की ढेर सारी गन्दगी को दूर करना व्यंग्य का ही कार्य है। “समाज में विद्यमान निराशा, निरुत्साह और विफलता के बादलों को व्यंग्य की किरणों से व्यंग्यकार दूर करता है।”<sup>20</sup>

---

17. बरसाने लाल चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य में हास्य रस पृ० 12

18. **Satire wishes but to exposr and criticize and shannes human life.**

19. मार्कट्वेन, हरिशंकर परसाई, तिरछी रेखाएँ, पृ० 9-10

20. बाबूराम धोंडू देसाई, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य निबन्ध एवं निबन्धकार, कानपुर, चिन्तन प्रकाशन. 1987 पृ० 26

व्यंग्य, सत्य का पर्दाफाश करता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब व्यंग्यकार निर्मोह व्यंग्य से मानव स्वातन्त्र्य की वास्तविकता को पहचानने में सामर्थ्य रखता हो। इसलिए व्यंग्यकार को सत्य के हमेशा निकट रहना पड़ता है। कड़वे अनुभवों से सत्य की संवेगना का उत्थान होता है जिससे व्यंग्य उत्पन्न होता है। “तीव्र व्यंग्य एक विसाती की तरह गम्भीर मुद्रा में हमारे ढकोंसलों का बक्स झटपट खोलकर दिखाने लगता है। व्यंग्य वह दूरबीन है। जो मिथ्या की भूमि पर खड़े दार्शनिक सत्य के दर्शन कराता है।”<sup>21</sup> गिलवर्टहाईट ने भी लिखा है- व्यंग्य की केन्द्रीय समस्या वास्तविकता के साथ उसके सम्बन्ध की है। व्यंग्य मानव समाज को प्रकट, आलोचित और लज्जित करना चाहता है। साथ ही वह पूर्ण वास्तविकता अभिव्यक्त करने का दम भरता है- और कुछ नहीं मात्र वास्तविक सत्य।<sup>22</sup>

मानव सामाजिक प्राणी होने के कारण अंधविश्वासों के चक्रव्यूह में फंसा रहता है। और वह इन स्थितियों का सामना नहीं कर पाता, किन्तु निर्मोह व्यंग्य धर्म की ओट में पनप रहे अनुचित कार्यों पर निर्भीकता से चोट कर सत्य की पुनर्परीक्षा करता है। व्यंग्य का महत्त्व मानव स्वातन्त्र्य के लिए हो रहे धर्म के पतन को रोकना तथा मानव को स्वस्थ व शाश्वत धर्म के मार्ग को दिखाना होता है। कबीर ने भी धर्म के नाम पर चल रहे पाखण्डों को सीधे-सादे ढंग से प्रस्तुत न करके निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा करवाई थी।

21. बालेन्द्र शेखर तिवारी, हिन्दी का स्वातन्त्र्योत्तर हास्य और व्यंग्य, पृ० 62

22. The Control Problem of satire is its relation to reality. Satire wishes, but to expose and criticise and shame human life, but it pretends to tell the whole truth and nothing but the truth.

- Gillert, The Anatomy of Satire, New Jersey, p. 158.

## 2.6 सामाजिक समानता एवम् व्यंग्य हेतु निर्भीक मनोगठन

व्यंग्य हाजिरजवाबी से सम्पन्न मेधा सम्मुख सामाजिक विषमताओं पर तीव्र प्रहार करने में सक्षम है ताकि सामाजिक समानता की अपरिहार्यता का बोध अन्य व्यक्तियों को कराया जा सके। इसे प्राप्त करने के लिए व्यंग्यकार का मनोगठन जीवन की जटिलताओं को सुलझाने में समर्थ व निर्भीक होना चाहिए। अगर देखा जाए तो समाज में फैली विसंगतियों पर साहित्य के माध्यम से किया गया प्रहार ही व्यंग्य है। साधारण जीवन में इस प्रक्रिया को कटाक्ष करना या ताना देना भी कहा जाता है। स्पष्ट शब्दों में, मनुष्य की अमानवीय मनोवृत्ति, छल-छद्म, भ्रष्टाचार, धोखा-दम्भ, अत्याचार आदि पर साहित्यिक कटाक्ष ही व्यंग्य है। जिस व्यंग्य में सुधार की भावना विद्यमान है, वही उत्तम व्यंग्य माना जाता है। बापूराम धोंडू देसाई व्यंग्य के विषम में लिखते हैं "असत् प्रवृत्ति से ग्रस्त लोगों की पीड़ा मुक्ति के लिए तथा सत् की प्रतिष्ठापना हेतु व्यंग्य साहित्य का सृजन हो रहा है। समग्र व्यंग्य साहित्य देखने से परिलक्षित होता है कि सभी व्यंग्यकारों ने व्यंग्य का प्रयोजन विविध रूप से किया है, किन्तु व्यंग्य का मूल उद्देश्य सुधार है।"<sup>23</sup> हरिशंकर परसाई ने भी सामाजिक को देखते हुए निर्भीक मनोगठन द्वारा व्यंग्य के स्वरूप को अधिक व्यापकता देते हुए लिखा है- "वैसे मैं सुधार के लिए नहीं, बदलने के लिए लिखना चाहता हूँ। यानि कोशिश करता हूँ- चेतना में हलचल हो जाए, कोई विसंगति नज़र के सामने आ जाए। इतना काफी।"<sup>24</sup> विजयेन्द्र स्नातक सामाजिक विकृतियों के विषय में लिखते

23. बापूराम धोंडू देसाई, हिन्दी व्यंग्य विद्या, शास्त्र और इतिहास पृ० 32

24. हरिशंकर परसाई "कैफियत", कमला प्रसाद (संपा०) परसाई रचनावली, भाग-6 पृष्ठ 243

हैं- “जिस दिन मनुष्य ने पहली बार समाज में अनीति, अत्याचार, छल-कपट, प्रपंच और पाखण्ड देखा होगा, उसी दिन उसने या तो उनका प्रत्यक्ष रूप से विरोध किया होगा अथवा अपने असमर्थ और आक्रोश की अभिव्यक्ति के लिए परोक्षभाव से वाग्प्रयोग द्वारा व्यंग्य किया होगा। सामाजिक विकृतियाँ और व्यवहार की असंगतियाँ ही व्यंग्य की जन्म भूमियाँ हैं।”<sup>25</sup>

सामाजिक समानता मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है तथा मानव के विकास का साधन है। समाज का विकास इसी में निहित है कि वह प्रगति के पथ पर चलता हुआ मानव हित के आदर्श का सम्पादन करे। किन्तु कई बार राजनैतिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण समाज में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है जिससे वह समाज मानव हित के आदर्श का पालन नहीं कर पाता तथा उसकी प्रगति में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अव्यवस्था सामाजिक असमानता का रूप धारण कर लेती है। यह एक सामाजिक रोग है। जिसका प्रभाव मानव स्वातन्त्र्य आदि विभिन्न पक्षों पर पड़ता है। सचेत साहित्यकार अपने निर्भीक मनोगठन द्वारा विभिन्न पक्षों पर आए हुए दोषों को लक्ष्य कर व्यंग्य करता है। इस व्यंग्य साहित्य का उद्देश्य होता है सामाजिक समानता लाना और उसे प्रगति पथ पर चलाना। इसी में मानव स्वातन्त्र्य निहित है सन् 57 के सैश्रक विप्लव के पश्चात् भारतीय समाज में भी ठीक इसी प्रकार की सामाजिक असमानता थी। उक्त विप्लव के परिणाम स्वरूप भारत का शासन कम्पनी सरकार के हाथों से निकल कर ‘ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल’ के

पास आ गया था। आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजों द्वारा भारतीय उद्योगधन्धों को नष्ट कर दिया गया था तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अंग्रेजी शिक्षा पश्चिमी सभ्यता और पश्चिम से आए विज्ञान के कारण भारतीय जीवन आन्दोलित हो गया था। इस प्रकार राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण भारत में विघटन की स्थिति उत्पन्न थी। इस कारण समाज के विभिन्न पक्षों में विकारों की लक्ष्य कर भारतेन्दू तथा उनके मण्डल के साहित्यकारों ने व्यंग्य किया।

भारतेन्दू तथा उनके सहयोगियों द्वारा लिखे गये सामाजिक व्यंग्य की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इन साहित्यकारों के मन में समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों कुप्रथाओं तथा अन्य सामाजिक रोगों से देश को स्वतन्त्र कराने की तथा देशोद्धार की एक ललक थी। यदि समाज के मध्युगीन आदर्श देश की प्रगति के लिए बाधा उपस्थित करते हैं तो उन पर भी व्यंग्य किया। सामाजिक चरित्र, सामाजिक व्यवहार, सामाजिक कुव्यसन, पारिवारिक जीवन जहां कहीं भी उन्हें दोष दिखाई दिया उद्धार के उद्देश्य से वहां व्यंग्य अवश्य किया। क्योंकि कृष्ण चन्द्र के अनुसार “व्यंग्य ही वो तेज नशत्र है, जिससे लेखक और कवि समाज नासूर के गन्दे फोडे खरोलता है और उसे स्वास्थ्य, शक्ति प्रगति की ओर बढ़ाने की चेष्टा करता है।”<sup>26</sup> इसी प्रकार सामाजिक समानता बनाए रखने के लिए दिनकर सोनवलकर व्यंग्य की प्रहार शक्ति के विषय में लिखते हैं- “व्यंग्य एक अस्त्र है जो भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार करता है, यानि एक आईना जो लोगों को असली शक्ल दिखाता है।”<sup>27</sup>

26. बापूराम धोंडू देसाई, हिन्दी व्यंग्य विद्या, शास्त्र और इतिहास, पृ० 19-20

27. दिनकर सोनवलकर “व्यंग्य की भूमिका”, श्याम सुन्दर घोष (संपा०) “व्यंग्य क्या, व्यंग्य क्यों ?” पृ० 53

समाज की इस दुख व्यवस्था को समस्त भारतेन्दु युगीन साहित्यकारों ने अनुभव किया। सामूहिक चेतना के अभाव में तथा अपने अलग-अलग संस्कारों के कारण प्रत्येक साहित्यकार की समाज में व्याप्त इन कुरीतियों तथा कुप्रथाओं के प्रति भिन्न प्रतिक्रिया हुई। सामाजिक समानता वो सब चाहते थे। इसलिए लेखकों और कवियों ने निर्भीक मनोगठन द्वारा इन गलत परम्पराओं को व्यंग्य के तीखे प्रहार द्वारा दूर करने की चेष्टा की। उनका उद्देश्य मानव को स्वतन्त्र, और समाज को बेहतर बनाना था। इसके लिए यह विकृति और विसंगति पर चोट कर उसे उखाड़ कर जनसामान्य के समक्ष पेश करता है। क्या है और क्या होना चाहिए का भेद समझाने का प्रयत्न करता है। वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता लिखते हैं- “व्यंग्य ऐसा सोदेश्य साहित्य है, जिसका सीधा सम्बन्ध मानव जगत की विकृतियों के साथ है तथा जिसकी सार्थकता उनके परिहार में है। व्यंग्यकार विश्व में व्याप्त दुर्गुणों, दोषों, मिथ्याचारों, ब्राह्म्याचारों, पापाचारों, भ्रष्टाचारों तथा मूर्खताओं पर प्रहार करता है। इस प्रहार का उद्देश्य यह है कि मानव अपने आचरण को बदलने के लिए विवश हो जाए तथा समाज स्वस्थ रूप अपनाने पर बाध्य हो जाए।”<sup>28</sup>

आज मानव स्वातन्त्र्य और सामाजिक समानता से संबन्धित हर पक्ष विसंगतिपूर्ण है और इस पतन, विघटन और पाप को समाप्त करने का कोई मार्ग नहीं है, तो व्यंग्य हेतु निर्भीक मनोगठन की आवश्यकता के लिए हुए हर लेखक या कवि के लिए व्यंग्य की आवश्यकता और अधिक बढ़ गई है। मानव स्वतन्त्रता और सामाजिक समानता बनाए रखने के लिए आज व्यंग्य को औषधि, नव निर्माण और संभावनाओं

---

28. वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता “आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यंग्य”, पृ० 21



का प्रदाता और एक मात्र विकल्प माना गया है। इसी विषय में बालेन्द्र शेखर तिवारी के विचारानुसार- “निराश और हतोत्साहित समाज के लिए व्यंग्य ही आशा का संदेश लाता है। उसमें स्फूर्ति जगाता है और संघर्ष के लिए प्रतिबद्ध करता है। इतना निःसंदिग्ध है कि समसामायिक जटिल और भ्रष्ट स्थितियों में व्यंग्य ही वास्तविक, नव निर्माण और संभावनाओं का प्रदाता है।”<sup>29</sup>

इस प्रकार सामाजिक समानता एवम् व्यंग्य हेतु निर्भीक मनोगठन के मूल में प्रमुख जीवन दृष्टि समाज कल्याण एवम् मानव स्वातन्त्र्य की है। इनका महत्त्व सामाजिक समानता लाने के प्रयत्न में था। जन सामान्य का ध्यान समाज में व्याप्त अनेक व्याधियों की ओर आकर्षित करने में जो सफलता इन साहित्यकारों को मिली यही इनकी उपलब्धि थी।

अगर मध्यकाल में दृष्टिपात करें तब तद्दुगीन हिन्दू और मुसलमान धर्मों रीति-रिवाजों में काफी भिन्नता थी जिसके कारण दोनों जातियों में पारस्परिक मत भेद था। राम रहीम के नाम पर दोनों में झगडा था। जिससे सामाजिक शान्ति भंग हो चुकी थी। समाज में अंधानुकरण अधिक था इसलिए लोगों में स्वतन्त्र चेतना का विकास नहीं हो सका। समाज में अनेक तरह के भ्रष्टाचार फैले थे। कोई सामाजिक व्यवस्था न होने के कारण समाज में बहुत से लोग बेकार थे जो साधुओं के भेष में इधर-उधर घूमते-फिरते थे। राजनीतिक परिवर्तनों एवम् अत्याचारों के कारण समाज में आर्थिक असमानता थी जिससे सामाजिक प्रगति रुक गई थी। सन्त कवियों ने तटस्थ होकर समाज के इस बाह्य और अन्तरंग को देखा था। जहाँ भी उन्होंने सामाजिक

---

29. बालेन्द्र शेखर तिवारी, हिन्दी का स्वातंत्र्योत्तर हास्य और व्यंग्य पृ० 65

असमानता देखी वहां निर्भीक होकर व्यंग्य किया। जिन पांखण्डों एवम् दुर्व्यवस्थाओं का वर्णन सन्तों के काव्य में पाया जाता है वे वास्तव में तत्कालीन समाज के मूल में विद्यमान थीं। सन्त तो मानव समुदाय को विशुद्ध सामाजिकता की दृष्टि से देखते थे। इसीलिए समाज में जितने ऊपर से आरोपित आवरण थे उसको वे अपने निर्भीक मनोगठन द्वारा उतार फेंकते थे। वे सामाजिक समानता लाने के लिए मानव जीवन के व्यवहार को एक धर्म के रूप में देखना चाहते थे और समाज में प्रचलित सारे कर्मकाण्डों को व्यंग्य के माध्यम से तिरस्कृत करते थे। सन्त कवियों का विरोध धर्म या सम्प्रदाय से न होकर उन सारी सामाजिक बुराइयों से था। सन्त कवियों में कबीर द्वारा किया गया व्यंग्य वास्तव में एक वर्ग का विरोध था, जिसका नेतृत्व कबीर ने किया था। इन सब पाखण्डों की प्रतिक्रिया में कुछ कहने के लिए सन्त ही निर्भीक थे। वह लोगों को सच्ची बातें सुना सकते थे। पाण्डे मुल्ला को फटकार सकते थे और ऐसा उन्होंने कर भी दिखाया। वास्तव में कबीर ने जो कुछ भी कहा वह सर्व साधारण के लिए कहा है, वह पूरे समाज की भलाई के लिए है और जो पाण्डे अथवा मुल्ला को फटकारते हैं वह सामाजिक प्रतिक्रिया है। सन्तों ने तो अपने निर्भीक मनोगठन द्वारा हिन्दू मुसलमान के वर्ग पर चोट करते हैं। यदि समाज वैसा न होता तो संत तो व अन्य सन्त कवि अपने निर्भीक मनोगठन द्वारा कभी ऐसा न कहते, उन्होंने सामाजिक समानता लाने के लिए जहाँ भी कोई कमी देखी निर्भीक होकर व्यंग्य किया। इसी से संत कवियों की निर्भीकता का पता लगाया जा सकता है।

## 2.7 वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या

वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या की विचारधारा में मानव के

अतिरिक्त किसी भी अतिमानव आदि पर विचार नहीं किया जाता। इसके अन्तर्गत मानव के सर्वाङ्गीण विकास की महती आकांक्षा को लिया जा सकता है। मानववादी विचार रखने वाले मानव-स्वातन्त्र्य के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और मानव के विकास को अवरूद्ध करने वाली रूढ़ परम्पराओं को तोड़ डालने का आग्रह रखते हैं। उसमें मानव के प्रति अटूट आस्था होती है। इस आस्था का स्वर विभिन्न रूपों में प्रस्फुटित हुआ है- मानव के साथ उसकी मानवता की आस्था, मानवता के आगमन पर आस्था, मानव में परस्पर बंधुत्व की कल्पना, परोपकार या शिव की कामना तथा ईश्वर को भी मानव के संदर्भ में देखने की उत्कट अभिलाषा निहित रहती है। मानव को वर्तमान युग में सभी तत्त्वों से प्रमुख माना गया है। आधुनिकता के अन्तर्गत उन सभी बातों का विरोध किया गया है जो मानव को उसके अधिकारों से वंचित करती है। मानव में स्वतन्त्र चेतना, अपने अस्तित्व की पहचान आदि मुख्य रूप से सामने आयी। यह स्वीकार किया गया है कि सभी मूल्यों, धारणाओं का निर्माता मानव ही है। अतः वह रुढ़ियों, मान्यताओं का विरोध कर सकता है। वह स्वयं ही शक्ति का केन्द्र है। “उन्नीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक उपलब्धियों में डार्विन के विकासवाद एवं रूसो आदि अन्य मनीषियों की स्थापनाओं ने ईश्वर के स्थान पर मानव को चिंतन का केन्द्र एवं सभी मूल्यों का अधिष्ठान बना दिया।”<sup>30</sup> विज्ञान के जिन नवीन अविष्कारों, नवीन चिंतन के फलस्वरूप मानव विषयक धारणा में परिवर्तन आया है। जिसमें मानव के महत्त्व को प्रतिष्ठापित किया गया है। इसके साथ-साथ धर्म सम्मत पारलौकिकता विषयक दृष्टि में भी परिवर्तन हुआ। आज यह सिद्ध हो चुका है कि कोई भी दैवी

---

30. डॉ० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता, परिशोध अंक 34-35 पृ० 29

शक्ति मानव के भाग्य की नियामक नहीं है। “धर्म, जाति और रंग की संकुचित सीमा से अलग हटकर व्यक्ति का केवल मनुष्य के रूप में मूल्यांकन करना विश्व्यापी आधुनिकता है।”<sup>31</sup> पारलौकिक दृष्टि के विरोध में आधुनिकता का आगमन हुआ। जहाँ ईश्वर के महत्त्व के स्थान पर मानव को केन्द्र बिन्दु के रूप में स्वीकारा गया है। मानव को समानता व स्वतन्त्रता का अधिकार मिला और उसके मानत्व को प्रतिपादित करने के लिए उसके लिए नये स्वतन्त्र मूल्यों का विकास हुआ।

आधुनिक युग में मानवीय अस्तित्व स्वतन्त्र है। आज समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। तब धार्मिक कर्मकाण्डों के बीच मानव की प्रायः अवहेलना ही होती रही है। मानव के सामाजिक विकास में मध्यकालीन परम्पराएँ बाधक सिद्ध हुई हैं। “जो दायित्व अब तक ईश्वर पर या धर्म पर था। वह अब मानव ने स्वयं ओढ़ लिया है।”<sup>32</sup>

पिछले समस्त युगों की मूल चेतना धार्मिक आस्थाओं व आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित रही है परन्तु आधुनिकता के अन्तर्गत स्वीकार किया जाने लगा कि मानव ही सत्य है। मानव ही केन्द्र से है और शेष सभी मूल्य मिथ्या है।

आधुनिक विश्व चिन्तन अधिकाधिक मानव केन्द्रित होता चला गया है। इसी कारण मानव के सुख दुःख इत्यादि को दृष्टिगत रख कर मानव स्वातन्त्र्य चिन्तन भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने कि स्थिति में आ गया है। वैदिक दर्शन से लेकर

31. भगवतीचरण वर्मा, रमाकान्त श्री वास्तव, व्यक्तिवादी और नियतिवादी चेतना के सन्दर्भ में पृ० 273

32. महेन्द्र कुमार जैन, हिन्दी उपन्यासों में पारिवारिक चित्रण, पृ० 62

भक्तिकालीन आचार्यों तक के दर्शन की प्रमुख समस्या मानव की दुःखों से मुक्ति की रही है। पाश्चात्य दर्शनों के केन्द्र में भी मानव की दुःख मुक्ति की समस्या रही है। इसलिए इस चिन्तन के केन्द्र में कभी मानव मन रहा तो कभी मानव की युग परिस्थितियाँ। आदर्शवादी विचारधारा से लेकर अस्तित्ववादी चिन्तन धारा तक पाश्चात्य दर्शन के विकास क्रम को मानव जीवन को सुखपूर्णा कैसे बनाया जाये- इस विचार दृष्टि ने निरन्तर प्रभावित किया है। यही कारण है कि तत्पश्चात् इन्हीं दर्शनों के आधार पर आधुनिक विश्व-चिन्तन मानव केन्द्रित हो गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक उन्नति तथा औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप अब वह समय आ गया, जब पश्चिम में विकसित यह विश्व-मानववादी विचारधारा विभिन्न देशों की सभ्यताओं और संस्कृतियों में घुसकर उन्हें अपने अनुसार परिवर्तित करने में लग गई।<sup>33</sup> “रिनेसां ने मनुष्य को संसार के केन्द्र बिन्दु में स्थापित कर दिया, अर्थात् इस समय से ही मानव अपना स्वामी स्वयं बन गया, उसके हाथ में इतनी अपार शक्ति आ गई कि अपना सब कार्य और विकास खुद ही कर सके।”<sup>34</sup> इसी प्रकार मध्यकाल में मानव को रुढ़ियों परम्पराओं से मुक्त कर सन्तों ने उसकी मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या की है।

## 2.8 जातीय-साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत बन्धन मुक्ति

भारतीय संस्कृति में जातीय-साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत बन्धन से मुक्ति अति प्राचीन काल से विद्यमान रही है। किन्तु समय-समय पर इसमें सुधार व विकार आते

33. पाश्चात्य दार्शनिक पृ० 140 (कुल श्रेष्ठ महेन्द्र)

34. वही पृ० 140-141

रहे हैं। कर्मणा पर आधारित वैदिककाल की वर्णाश्रम व्यवस्था<sup>35</sup> अब जन्मणा में परिवर्तित हो गयी, जिसके फलस्वरूप जातियों में उपजातियों का जन्म हुआ। एक जाति दूसरी जाति की परस्पर पूरक न बनकर प्रतिस्पर्धी बन बैठी। तथा कथित धर्मवीर पुरोहितों ने जाति-बन्धन के शिकजें को इतना कस डाला कि हिन्दू धर्म का लचकीलापन जाता रहा। हर मानव जाति बन्धन से मुक्ति पाना चाहता था। लेकिन समाज में जाति-पाति की खाई और साम्प्रदायिकता की भावना और भी गहरी होती चली गई। यह जाति व्यवस्था उन लोगों के लिए और भी अधिक दुःखदायी थी जो निचले स्तर के थे। शुद्रों को नीचतम् वर्ग समझा जाता था। उच्च वर्ग वालों ने उन्हें सारे अधिकारों से वंचित कर रखा था। मानव स्वतन्त्रता चाहता था क्योंकि वेदों और शास्त्रों का अध्ययन उनके लिए व्याज्य था। वे मन्दिरों में देवताओं के दर्शन भी न कर सकते थे। उनके लिए मन्दिर में प्रवेश निषिद्ध था। उनका स्पर्श तक अस्पृश्य और अपवित्र समझा जाता था। इसलिए साधु सन्त मानव को स्वतन्त्र मानते हुए जाति व्यवस्था का सबल विरोध करने लगे थे। शुद्रों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। अच्छे कार्य करके भी वे उच्च नहीं माने जाते थे। इस प्रकार जाति व्यवस्था नीची जाति के लिए तो सामाजिक दासता थी। इन लोगों का समय उच्च वर्ग के विलासी लोगों की सेवा करने में व्यतीत होता था। उच्च वर्ग वाले अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए अव्यवस्था को बनाये रखना चाहते थे। इस वर्ग का घोर शोषण हो रहा था तथा ये लोग समाज में हेय दृष्टि से देखे जाते थे। जातीय, साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत अभिमान अधिक बढ़ गया था। जिससे मानव स्वतन्त्रता पाना चाहता था।

---

35. राधाकमल मुकर्जी, प्राचीन भारत पृ० 26

साम्प्रदायिकता के नाम पर अत्याचार होते थे। जातिबन्धन की जटिलता स्थिर ही चुकी थी। वर्ग-विभेद जाति में परिणत हो चुका था। मुस्लिम आक्रमण से जाति-पाति व साम्प्रदायिक भावना और अधिक कठोर हो गई थी। वर्ग के आधार पर जात्याभिमानी ब्राह्मण निम्नवर्गीय व्यक्तियों को दीक्षा नहीं देते थे। इनको अलग बैठाया जाता था तथा इनके साथ समानता का व्यवहार भी नहीं किया जाता था।<sup>36</sup> नीचजन्मा व्यक्तियों से दीक्षा लेने पर ब्राह्मण जातिच्युत कर दिये जाते थे और ऐसे व्यक्ति के साथ रोटी बेटी का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता था। मध्यकालीन समाज विविध जातियों, सम्प्रदायों तथा वर्गों में विभक्त था। जातीयता का भेद सभी वर्गों एवम् सभी सम्प्रदायों में बना हुआ था। समाज का हर एक मानव किसी न किसी जाति, सम्प्रदाय तथा वर्ग का बनकर एक दूसरे का विरोधी बन गया था उसके चारों तरफ स्थार्थ और संघर्ष की ज्वाला थी। सन्तों यह सब देखा न गया। उन्होंने अपने साहित्य में अपनी वाणी द्वारा इन सब बन्धनों से मानव को स्वतन्त्र करने की चेष्टा की।

---

36. भक्त विजय पृ० 53 और 217

तृतीय अध्याय : मानव स्वातन्त्र्य एवम् सन्त साहित्य  
( कबीर, गुरूनानक देव एवम् रैदास  
का विशिष्ट सन्दर्भ )

- 3.1 सन्त साहित्य में मानवाधिकार चेतना
- 3.2 सन्त साहित्य में मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा
- 3.3 सन्त साहित्य में रूढ़िबद्धता से मुक्ति
- 3.4 सन्त साहित्य में बौद्धिक एवम् तार्किक  
निष्पत्तियों की स्वीकृति
- 3.5 सन्त साहित्य में निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा
- 3.6 सन्त साहित्य में सामाजिक समानता एवम् व्यंग्य हेतु  
निर्भोक मनोगठन
- 3.7 सन्त साहित्य में वैश्विक सत्य की मानव केन्द्रित  
पुनर्व्याख्या
- 3.8 सन्त साहित्य में जातीय- साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत  
बन्धन मुक्ति



### 3.1 संत साहित्य में मानवाधिकार चेतना

आदिकाल से मानव सामाजिक, पौराणिक व्यवस्थाओं द्वारा घोषित सिद्धान्तों के अनुरूप जी कर अपने अधिकारों के प्रति नितान्त अनभिज्ञ रहा। इस दृष्टि से सन्त कवियों ने मानवाधिकार चेतना जगाने का बीड़ा उठाया। मानवाधिकारों को स्पष्ट करते हुए यही कहा जाएगा कि मानवाधिकारों में सर्वप्रथम है, होने या जीने का अधिकार। जो स्थावाविक है कि अस्तित्व के अधिकार को जन्म देगा और अस्तित्व का अधिकार मानवीय मनोविज्ञान की आन्तरिक व्यवस्था प्रणालियों को। इनमें भयोन्मुक्त होने का अधिकार, आत्मा की स्वच्छन्दता का अधिकार, और एक शब्द में कहें तो निर्बन्धन होने का अधिकार। सन्त कवियों ने देखा कि मानव की अभिव्यक्ति पर क्रूर शासन के बादल हैं तो कोई धर्म उसे मूंड-मुंडाने के लिए परतन्त्र कर रहा है, तो कोई अजान देकर दावा करता है कि मैंने खुदा को बुला लिया। मानव इन सब बन्धी बन्धायें लीकों पर चलता हुआ स्वयं से पूरी तरह बिछुड़ गया। ऐसे में उसके अधिकार जिन्हें हम मानवाधिकार कहते हैं और जो मुख्यतः होने, जीने, कहने, खुला सोचने के अधिकार होते हैं के प्रति मानव सचेत नहीं रहा। सन्त कवियों ने अपनी कृतियों में मानवाधिकारों के प्रति मानव स्वातन्त्र्य के विशेष सन्दर्भ में विशेष बल दिया।

मध्यकाल में समाज में सबको खाने-कमाने का समान अधिकार नहीं मिल रहा था इसीलिए समाज में जोगी, जती, जंगम, जटाधारी, वनखण्डी आदि भेष बनाकर अपनी जीविका चला रहे थे।<sup>1</sup> यह समाज का भिखारी वर्ग था जो बिना श्रम किए

---

1. जोगी जंगम जती जटाधार अपनै अवसर सब गये हारि ॥

अपना पेट-पालन कर रहा था। इन नकली साधुओं की समाज में भरमार थी। कोई चन्दन लगा कर तथा गेरुआ वस्त्र पहन कर, इधर-उधर घूम रहा था तो कोई जटा बढ़ा कर जंगल तथा पहाड़ की गुफा में जाकर बैठा था।<sup>2</sup> इस तरह मानव अलग-अलग बन्धनों में जकड़ा हुआ था। अजीब थे ये मानव के रूप और विचित्र थे जीवन बिताने के रास्ते। न जाने क्या थे वेद पुराण तथा कुरान के संदेश। न जाने मुल्ला और पांडे के उपदेश क्या थे। क्या इन बन्धनों में जकड़ा हुआ मानव जनकल्याण के लिए सचेत हो सकता है, क्या इसी प्रकार के कर्मों से मानवाधिकार चेतना उभर सकती है ? इसीलिए उन्हें वेद कुरान विष सा लग रहा था।<sup>3</sup> और सारे कर्मकाण्ड झूठे। कबीर समाज की इस दशा को देखकर बहुत चिन्तित थे। समाज उनका साथ ही नहीं दे रहा था। वे कर्म करते कर्म का रास्ता दिखा रहे थे। पर समाज अन्धा था। वे कर्म को मानव जीवन का लक्ष्य मानते थे और मानव सेवा को ईश्वर की सेवा। वे पुकार-पुकार कर कहते थे कि मानव जीवन में पर सेवा का यही अवसर है अन्यथा बाद में पछिताओगे।<sup>4</sup> कबीर ऐसे ही मानव को सच्चा पुरुष मानते थे जो स्वयं कमा कर अपना

2. बनह बसे का कीजिये जे मन नहीं तजै विकार ॥  
का जटा भसम लेपन किये कहा गुफा में बास ॥  
--- वही पृ० 142 पद 300
3. जाग्या रे नर नौद नसाई चित चेत्यौ व्यंतामणि पाई ॥  
जन जागे का ऐसाहि नांण, विष से लागै वेद पुराण ॥  
--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 155 पद 352
4. गुरु सेवा करि भगति कमाई। जो तैं मनिषा देही पाई ॥  
जो कुछ करौ सोइ तत्सार, फिरि पछिताओगे वार न वार ॥  
सेवग सो जो लागै सेवा, तिनहीं पाया निरंजन देवा ॥  
यहु तेरा औसर यहु तेरा वार, घाटहिं भीतरि सोचि विचार ॥  
कहै कबीर जीति भावै हारि, बहु विधि कहौ पुकारि-पुकारि ॥  
--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 154

और अपने परिवार का निर्वाह करता हो।<sup>5</sup> वे कमाने और खाने वालों का सहयोग साथ-साथ लेकर चलना चाहते थे। मिलकर खाना और मिलकर कमाना उनका अभीष्ट था। कबीर का यह विचार मानवाधिकार चेतना के क्षेत्र में साम्य मूलक था। इससे वे मानव को कर्म और फल दोनों में सहयोगी और सहभागी बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने सत्संगी साधु भक्तों का संगठन बनाया था जो भजन भी करता था और गृहस्थी का काम भी। कबीर इसी कर्म अधिकार के बल पर जन-जीवन की आर्थिक समस्या को सुलझाना चाहते थे। इसी तरह संत कबीर मानव को निर्वन्धन होने के लिए उन सभी बाह्याचारों का विरोध किया जो मानव को उसके अधिकारों से वंचित किए हुए था ऐसे ही बाह्याचारों का विरोध करते हुए कबीर कहते हैं कि भेद-विभेद, बाह्योपचार, आडम्बर और पांखण्ड के कारण भी समाज में विग्रह घर कर लेता है। आडम्बरपूर्ण जीवन के पीछे शुद्ध, पवित्र जीवन लुप्त हो जाता है। कोई मूर्ति-पूजा करता है, दूसरा उसे बुरा बता कर परस्पर झगड़ा करने में जुट पड़ते हैं। कोई माला पहिने तिलक लगाता है और जो ऐसा नहीं करते उनसे बचाव रखता है कोई रोजा रखता है, तो कोई व्रत-उपवास, कोई प्रयाग तीर्थ जा रहा है, तो कोई काबे की हज को जाता है। कोई मन्दिर में घंटा बजाता है, तो कोई मन्दिर में बाँग देता है, कोई पूर्व की ओर मुँह करके पूजा करता है, तो दूसरा पश्चिमाभिमुख होकर नमाज पढ़ता है। इन सभी बाह्याचारों को लेकर मानवाधिकार के प्रति एक भारी भेद-विभेद की खाई उत्पन्न हो

---

5. माँगी न खाइ न भूखा सोवै घर अंगनां फिरि आवै ॥

पाँच जना की जमाति चलावै, तास गुर में चेला ॥

--- वहीं पृ० 118

जाती है। पारस्परिक कलह, झगड़े-टण्टे होते हैं, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि का बोलबाला होता है। समाज अवनति की ओर उन्मुख हो जाता है। उन्होंने भस्म लेपन, स्नान, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, जप-तप, कायाकष्ट का विरोध किया। इसी प्रकार कबीर कहते हैं चाहे औरत हो चाहे आदमी सब में तुम्हारा रूप ही विद्यमान है।<sup>6</sup> इन सबका विरोध करके मानवाधिकारों के प्रति मानव को सचेत किया।

इसी तरह गुरु नानक ने राजनैतिक अवस्था के प्रति तीव्र रोष प्रकट किया है। मानवाधिकार चेतना के प्रति तत्कालीन शासकों की शोषण-वृत्ति को प्रदर्शित करते हैं नानक अधिकारों के प्रति ये शब्द कहते हैं कि “यदि जामें में रक्त लग जाये तो जामा अपवित्र समझा जाता है। इस जामे से नमाज नहीं पढ़ी जाती। किन्तु जो जीव मानव

- 
6. क्या ले माटी भुईं सूं मारै, क्या चल देह न्हावाये ।  
 जोर करे मसकीन सतावै, गुंन ही रहे छिपाये ॥  
 क्या तू जू जप मंजन कीये, क्या मसीति सिर नांये ।  
 रोजा करै निमाज गुजारै, क्या हज काबै जाये ॥  
 ब्राह्मण ग्यारसि करै चौबीसों, काजी महरम जानः ।  
 ग्यारह मास जुदे क्यूं कीये, एकहि माहि समांन ॥  
 जौ -जौ खुदाइ मसीति बसत है, और मुलिक किस केरा ।  
 तीरथ मूरति राम निवासा, दुहु मैं किनहूं न हेरा ॥  
 पूरिब दिसा हरी का वासा, पछिम अलह मुकामों ।  
 दिल ही खोजि दिलै दिल भीतरि, दूहां रांम रहिमांनं ॥  
 जेति औरति मरदां कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा ।  
 कबीर पंगुरा अलह रांम का हरि गुर पीर हमारा ॥

का रक्त ही पी जाते हैं। अत्याचार तथा जोर जुल्म से उनके अधिकारों का हरण कर लेते हैं और हराम की खाते हैं उनका दिल कैसे पवित्र रह सकता है। इस दिल से पढ़ी नमाज कैसे परवान चढ़ेगी। इसलिए हे नानक खुदा के नाम का पवित्र हृदय से मुँह से उच्चारण कर, नहीं तो तुम्हारे शेष सारे कर्म संसार के दिखावे मात्र हैं जैसे तुम झूठे कर्म कर रहे हो।'<sup>7</sup> गुरु नानक ही मध्ययुग के सर्वप्रथम महापुरुष थे जिन्होंने स्त्री को समाज में समानाधिकार दिये थे। गुरुनानक की प्रतिक्रिया को प्रस्तुत शब्दों में वर्णित करते हैं- “वे नारी की, माता की यह दीन-हीन दशा न देख सके। जहां वे स्त्री को भक्ति का पूर्ण अधिकार देते हैं, वहां वे उसे वन्दनीय भी मानते हैं। उन्होंने उस समय में फिऊडल-वर्ग के विचारों की निन्दा की और उन्होंने कहा कि नारी केवल काम-वासना की तृप्ति करने वाली, पुरुष की दासी एवम् रूप और श्रृंगार करने वाली ही नहीं है। वह स्त्री जो हमें जन्म देती है, पालन-पोषण करती है; जिसके बिना विवाहादि यज्ञ अपूर्ण हैं, जिसके बिना हमारा सन्मार्गगामी होना कठिन है, और ऐसे बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं एवम् ऋषियों महात्माओं की जननी है- वह निन्दनीय कैसे हो सकती है ? ऐसे सशक्त विचार केवल गुरु नानक ही कहने का साहस रखते

---

7. जौ रत लगै कपड़े जामा होय पलीतु।

जौ रत पीवहिं माणसा तिन किउ निमल पीतु।

नानक नाउ खुदाय का दिलि हछै मुखि लेहु।

अवरि दिखावै दुनी के झूठे अमल करेहु ॥1॥

--- शब्दार्थ वाणी श्री गुरु नानक देव पृ० 236

थे।<sup>18</sup> इस प्रकार नारी को समान अधिकार मिलने चाहिए। गुरु नानक के स्त्री सम्बन्धी विचारों ने स्त्री को पूजा-अर्चना, उपासना और समाज में पुरुषों के बराबर आजादी के अधिकार दिलाये। धर्मार्थ तथा ज्ञान में वह पुरुष के बराबर ही अधिकारों की स्वामिनी बन गई। वह भी स्वतन्त्रता की अधिकारिणी बन गई। उसे सिख-समाज में पुरुष के बराबर अधिकार मिल गये। “सोलहवीं शताब्दी में गुरु नानक ने सिख समाज में स्त्री जाति को इतने अधिकार दिये जो आज से पचास वर्ष पूर्व के युरोपीय समाज की स्त्रियों को प्राप्त नहीं थे।<sup>19</sup> गुरु नानक ने ही सर्वप्रथम समाजवादी समाज के विचार दिये थे। इन्होंने समाज के शोषित और दलित वर्ग को न केवल सम्मान दिया बल्कि समानाधिकार भी उनके सदस्यों को घोषित किए। समाज में मानवीय दृष्टिकोण को महत्त्व प्रदान किया गया। इसमें सभी नागरिकों को समान अधिकार दिए गए। क्यों सभी एक ही परम पिता द्वारा बनाये गये हैं। भारतीय चिन्तन एवम् भारतीय धर्मशास्त्र जाति भेद, वर्गभेद, रंगभेद इत्यादि विभेदकारी नीतियों से मुक्त सम्पूर्ण मानवता के लिए स्वतन्त्रता, न्याय और अधिकारों की संरक्षा के लिए सदैव चिन्तित रहे हैं। हमें गौरव है कि हमारा चिन्तन एवम् आचार गुरुवाणी से संचालित होता है -

---

8. “भंडि जंमिऐ भंडि निमीऐ भंडि मंगणु वीआहु ॥

भंडहु होवै दोसती भंडहु चलै राहु ॥

भंडु मुआ भंडु भालीऐ भंडु होवै बंधानु ॥

सो किउ मंदा आखीऐ जितु जंमहि राजा न ॥”

--- रागु आसा, वार, सलोकु- (41) ।

- डॉ० धर्मपाल सिंहल लिखित लेख ‘गुरु नानक तथा अन्य भक्त’ ‘सप्त सिन्धु’ पृ० 56

9. डॉ० त्रिलोचन सिंह- गुरु नानक दा सिख धर्म पृ० 22

अब्बल अल्ला नूर उपाया कुदरत दे सब बन्दे ।

एक नूर ते सब जग उपजिया कौन भले कौन मंदे ॥

इसी तरह सन्त रैदास जी की मानवाधिकारों के प्रति सामाजिक चेतना इतनी प्रबद्ध थी कि वे अपनी सभ्य एवम् सहज वाणी से समाज के ठेकेदारों को प्रताड़ते रहे। उन्होंने बुराइयों का अधिकारों के प्रति डटकर विरोध किया। क्योंकि उस समय भक्ति का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था तथा ब्राह्मण भगवान को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझते थे। अन्य वर्णों में क्षत्रियों और वैश्यों को भी भक्ति का अधिकार था, लेकिन ब्राह्मण अपने आपको इसका मुख्य दावेदार मानते थे। अन्यवर्णों को प्रभु का नाम स्मरण करने का अधिकार नहीं था। ऐसे समय में संत रविदास ने स्वयं शूद्र जाति में जन्म लेकर ईश्वर भक्ति का मार्ग जन साधारण के लिए खोल दिया। वे स्वयं ईश्वर भक्ति में इस प्रकार लीन हुए कि ब्राह्मणों ने भी उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। वे मानवाधिकारों के प्रति स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "ईश्वर किसी वर्ग विशेष या जाति विशेष का नहीं, अपितु समस्त जीवों का स्वामी है। उसकी भक्ति का अधिकार समस्त मानव जाति को है। चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो शूद्र हो अथवा म्लैच्छ हो। भक्तिके अधिकारी सभी मानव रूप में हैं।"<sup>10</sup> चाहे वह वीर, राजा या पंडित क्यों न हो। इस प्रकार रविदास जी ने ब्राह्मण और शूद्र में ऊँच-नीच के भेद-भाव को मिटा दिया। इन्होंने कहा कि नीच से नीच डोम-चण्डाल को भी प्रभु की भक्ति का अधिकार

---

10. ब्रह्मण वैसे सूद अरू ख्यत्री ॥ डोम चंडार मलेछ मन मोई ॥

होइ पुनीत भगवंत भजन ते, ॥ आपु तारि कुल दोइ ॥१ ॥

--- गुरु ग्रन्थ साहिब, राग बिलावल पृ० 858 पद 2

हैं। इसी प्रकार हिन्दू-समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था ने उसे कमजोर और पतित बना दिया था। इसी जाति विधान ने उसे पराधीन बनाये रखने में सहायता भी पहुँचाई थी। इस व्यवस्था ने लाखों लोगों को सामान्य अधिकारों से वंचित रखा था। पर संत रैदास ने वर्णाश्रम व्यवस्था को अस्वीकार किया और इसकी नींव पर बहुत जोर से चोट लगाई। ब्राह्मण, शूद्र में ऊँच-नीच के भेद-भाव को मिटाकर मानवाधिकार चेतना का प्रसार किया।

### निष्कर्ष

अतः हम कह सकते हैं कि मानवाधिकार चेतना के प्रति संतों ने समाज में परम्परागत कुरीतियों का निवारण कर भक्ति एवम् सत्संग के माध्यम से समाज को संगठित रूप देना चाहा था। वे सबको मानवता के समान धरातल पर लाना चाहते थे प्राकृतिक एवम् तात्त्विक दृष्टि से भी मानव अभेद है। इस दृष्टि से उन्होंने धर्म का प्रचार एवम् प्रसार किया था। मानव के कर्म एवम् अधिकार की समानता के लिए भी आवाज़ उठायी थी। उन्होंने अपनी कृतियों में मानवाधिकारों के प्रति मानव स्वातन्त्र्य के विशेष सन्दर्भ में बल दिया। बाह्याचारों को लेकर मानवाधिकारों के प्रति एक भारी भेद-विभेद की खाई उत्पन्न हो गई थी। सन्त कबीर ने इन सबका डटकर विरोध किया और इन सबका विरोध करके मानवाधिकारों के प्रति मानव को सचेत किया।

इसी प्रकार गुरुनानक देव जी ने भी इन बाह्याचारों का विरोध करके मानव को अपने अधिकारों के प्रति सचेत किया। गुरु नानक मध्ययुग के सर्वप्रथम महापुरुष थे जिन्होंने स्त्री को समाज में समानाधिकार दिये थे। धर्मार्थ तथा ज्ञान में वह पुरुष के बराबर ही अधिकारों की स्वाविनी बन गई थी। वह भी पूर्ण स्वतन्त्रता की



अधिकारिणी थी।

इसी तरह सन्त रैदास जी की सामाजिक चेतना इतनी प्रबुद्ध थी कि वे मानव अधिकारों के प्रति समाज के ठेकेदारों को प्रताड़ते रहे। उन्होंने समाज में फैली बुराइयों, कुरीतियों का अधिकारों के प्रति डट कर विरोध किया तथा भक्ति का अधिकार सबको समान रूप में प्रदान किया। उन्होंने ब्राह्मण, शूद्र में ऊँच-नीच के भेद-भाव को मिटाकर मानवाधिकार चेतना का प्रसार किया। अतः हम कह सकते हैं कि तीनों सन्त कवियों ने मानव को अपने अधिकारों के प्रति किसी न किसी रूप में विशेष बल दिया है।

### 3.2 संत साहित्य में मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा

संत साहित्य में मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए सन्तों ने विभिन्न संस्थाओं व व्यक्तियों जैसे कथित चोटी धारी पण्डितों अजान लगाते मुल्लाओं द्वारा स्थापित आरोपणयुक्त नियतियों जो कि मानव के सहज विकास में बाधक बनती रही और एक दैविक परतन्त्रता की भावना मानव में भरती रही, के विरोध में सन्त कवियों ने मानव को मानव समझे जाने व मानवीय वृत्तियों व अभिवृत्तियों का आदर करते हुए धर्म, जाति, रंग भेद के कट्टरे में विभाजित किए बगैर मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा पर बल दिया। जहाँ मानव के विवेक को सर्वोपरि समझा गया व आरोपणमुक्त मनोवृत्ति स्थापित की गई। इसी शृंखला में हम एक-एक कवि का विवेचन करेंगे, सर्वप्रथम कबीर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मानव मात्र के प्रेमी थे। मानव के हितों की बात सोचते-सोचते उनके मन की करूणा अत्यन्त द्रवीभूत हो गयी थी और दूसरी तरफ सामाजिक भ्रष्टाचारों एवं धार्मिक पाखण्डों को देखकर उनका मन तिलमिला उठा था। उनका साहित्य मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा को उभारने वाला है। कबीर का

विरोध उन लोगों से था जो मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा में बाधा डालने वाले कर्मकाण्ड फैला कर लोगों को धोखा दे रहे थे। काजी व मुल्ला का ईश्वर के प्रति भेद-भाव झूठा है, पण्डितों का वर्गवाद झूठा है।<sup>11</sup> कबीर शब्दों के माध्यम से काजी, मुल्ला पर लट्ठमार चोट करते हैं वे पाँडे को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि पाँडे! तुम्हें कौन सी कुमति लगी है जो तुम हरि भजन नहीं करते। तुम तो वेद, पुराण इस प्रकार पढ़ते ही जैसे कि चन्दन के भार को गधा ढोता है। अर्थात् वेद पुराण में निहित ज्ञान चन्दन के सद्गुणों के समान है पर पण्डित, मुल्ला उसके वास्तविक मर्म को जान ही नहीं पाते। उस ज्ञान को अपने मार्मिक जीवन में नहीं उतार पाते। इसलिए वह ज्ञान उस भार के समान है जिस तरह गधा चन्दन की उपादेयता को नहीं समझ पाता उसी तरह यह पण्डित और मुल्ला भी इस ज्ञान को नहीं समझ पाते। अर्थात् सभी जीवों के प्रति दया एवम् सहानुभूति होनी चाहिए।<sup>12</sup> इसी तरह वे काजी को कहते हैं कि हे काजी! तुम किस कुराण की प्रशंसा करते हो। कुरान पढ़ते-पढ़ते इतना दिन बीत गया पर उसकी गति को अभी तक समझ नहीं पाए। शक्तिपूर्वक बालक का खतना

---

11. पंडित वाद बदन्ते झूठा। राम कह्या दुनिया गति पावै पांड भह्या मुख मीठा

--- क० ग० पृ० 79 पद 40

12. पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तू राम न जपहि अभागी।

वेद पुरान पढ़त अस पांडे खरचंदन जैसे भारा ॥

राम नाम तत समझत नांही अंति पढ़ै छारा ॥

वेद पढ़या का यहफल पांडे सब घटि देखै रांमा ॥

जन्म मरन थैं तौ तूँ छूटै सुफल छूहिं सब कांमा ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 78-80, पद 39

कराते हैं, यह इनका आदर्श है। यदि ईश्वर की तरफ से हिन्दु-मुसलमान में कोई भेद होता तो तुर्क बनने के लिए माँ के पेट से ही खतना करा के आते। मुसलमान लोग अपने को तुरूक बनाते हैं पर औरतों का क्या करेंगे ? आप तो मुसलमान बन जाते हैं पर औरत तो हिन्दु ही रह जाती है। अरे! कुरान को छोड़ कर राम का भजन करो।<sup>13</sup> यहाँ कबीर ने मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए पाँडे, एवम् काजी के निष्कृष्ट कर्म पर चोट की है, जो कि मानव को इन भेद-भावों में जकड़ा हुआ था। सन्त साहित्य में मानवीय गरिमा के प्रतिष्ठा के लिए कबीर ने देखा कि समाज में मानव एक दूसरे से अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहा है जिससे उसका संगठन टूटता जा रहा है। वह अपने को भूल गया है। मानव ही मानव को नहीं पहचान रहा है धनी “निर्धन को आदर नहीं देता।”<sup>14</sup> ज्ञानी भूखों मरता है। अज्ञानियों का सत्कार होता है। माया के अधीन जीव को लोग राजा कहते हैं। धन सग़्रहीं स्वामी बनते हैं। गरीबों

---

13. काजी कौन कतेव बषाने। पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहिं जाने।

सकति से नेह पकरि करि सुनति यहनबंदू रे भाई।

जौ रे खुदाइ तुरक मोहि करता तो आपै-कटि किन जाई।

हौ तौ तुरक किया करि सुनति औरति सौंका कहिये।

अरध सरीरी नारि न छूटै आधा हिन्दू रहिये।

छाड़ि कतेब राम कह कजी खून करत हौ भारी।

पकरी टेक कबीर भगति की काजी रहे झष भारी ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 83, पद 59

14. निर्धन आदर कोई न देई।

कबीर ग्रन्थावली पृ० 230 रमैणी

को पैसा देकर लोग ब्याज लेते हैं।<sup>15</sup> कबीर ने इन दोनों के बीच के अन्तर को समाप्त कर मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा पर बल दिया।

समाज में फैली इन सारी असमानताओं पर कबीर ने विचार किया और पाया कि ये सारे अमानवीय दुर्व्यवहार मनुष्य ने अपनी भूल से बनाये हैं। अपने को न पहचानने के कारण ही मानव आत्मघाती हो गया है। वह स्वयं अपने-आप पर चोट करता है और दूसरों को दोषारोपण करता है। इसलिए कबीर ने यह बार-बार कहा है कि अपनी आत्मा को चीन्हें, अपने को पहचानों।<sup>16</sup> तथा बुराइयों को भी अपने आप में खोजों और उन सबसे स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करो। वास्तव में मध्यकालीन समाज में मानव अपनी कमजोरियों के कारण ही अपनी प्रतिष्ठा खोए बैठा था इसलिए कबीर उन बुराइयों पर चोट करते हैं न कि किसी जाति या सम्प्रदाय पर। सामाजिक लोकाचार पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि लोग मरने के बाद पितृ स्नेह प्रदर्शित करते हैं जीते जी पिता को डंडा से मारते हैं और मरने के बाद गंगाजल में श्रद्धाजलि देते हैं जीते जी तो पिता को अन्न नहीं देते पर मरने के बाद पिंड भरते हैं जीवत रहने पर पिता को अपराधी कहते हैं और मरने के बाद श्राद्ध पक्ष में कौवा को खाना खिलाते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि कौवा को खिलाया हुआ खाना मृतक

---

15. लालच लोभी मसखरा तिनकूँ आदर होई। जीवां को राजा कहें माया के अधीन  
कलिका स्वामी लो भिया मनसा धरी बधाइ। देहिं पईसा ब्याज को लेखा करता नाइ ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 26-28

16. कहैं कबीर जे आप विचारै मिटि गया आपन जाना।

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 70

पिता कैसे पा सकता है।<sup>17</sup> इसी तरह कबीर ने मूर्ति पूजा कि मनुष्य की सेवा न करके पाषाण निर्मित मूर्ति की उपासना करता है। जीवत पेड़ से पत्ते व फूल तोड़ कर जड़ पत्थर की मूर्ति पर चढ़ाता है मूर्ति बनाने वाला स्वयं मनुष्य है जो मूर्ति की छाती पर पाँव देकर उसको गढ़ता है। यदि यह मानव द्वारा बनाई गई मूर्ति सब कुछ है या ईश्वर का रूप है तो गढ़ने वाले को क्यों नहीं खा जाती ? लड्डू, लपसी पूजा करके लोग मूर्ति पर इसे चढ़ाते हैं। सब पूजा करने वाले पुजारी ही इसे खाते हैं। मूर्ति तो जहाँ की तहाँ रह जाती है।<sup>18</sup> यह सब भली-भांति जानते हैं कि मूर्ति पत्थर की है फिर लोग उसे देवी देवता मानकर उपासना करते हैं पर मानव, जो चेतन है सुख दुःख में सहायक बन सकता है, उससे रूठते हैं।<sup>19</sup> उससे घृणा ईर्ष्या द्वेषादि

17. ताथे कहिये लोकाचार। वेद कथेबक थे व्यवहार।

जारिबारि कारि आवें देहा। मूवा पीछै प्रीति सनेहा ॥

जीवित पित्रहिं मारहिं डंडा ॥ मूवा पित्र लै घालैं गंगा ॥

जीवित पित्र कूँ अन्न न ख्वावै। मूवा पीछै प्यंड भरावै ॥

जीवित पित्र कूँ बोलै अपराध। मूवा पीछे देहि सराध ॥

कहि कबीर मोहि अचरज आवै। कउआ खाइ पित्र क्यूँ पावै ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 256 पद 356

18. भूलि मालिनी ॥ भूलि मालिनी पाती तोडै पाती पाती जीव ॥

जा मूरति कौं पाती तोडै सो मूरति नर जीव। टांचणहारै टांचिया दै छाती ऊपारि पावै।

जे तूं मूरति सकल है तो घड़णहारे कौं खाव। लाडू लावण लापसी पूजा चढ़ै अपार।

पूजि पुजारा ले गया दे मूरति कै मुहि छार ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 116 पद 168

19. पड़ोसी सू रूठणा पल पल सुख की हांणि। पंडित भये सरावगी पानी पीवे छाणि ॥

--- वही पृ० 28

करते हैं। इन्हीं दुर्व्यवहारों के कारण मानव अपनी प्रतिष्ठा खोए बैठा था। पर कबीर ने मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए मानव को स्वतन्त्र, सचेत व दायित्वयुक्त ठहराते हुए अपने साहित्य में इन गलत परम्पराओं, रुढ़ियों आदि से मुक्त करने का भरसक प्रयास किया।

तत्कालीन समाज में धर्म के नाम पर हिन्दु-मुसलमान दोनों में बड़ा झगड़ा चल रहा था। जिसके कारण समाज में बड़ी अशान्ति थी। कबीर ने मानव को समझाते हुए कहा- जाति या धर्म के नाम पर कलह करना व्यर्थ है।<sup>20</sup> कबीर स्वतन्त्र विचारक थे इसलिए उन्होंने जो कुछ कहा वह प्रायः सभी धर्मों में मिलता है। वे किसी धर्म विशेष को नहीं मानते थे। उनका संघर्ष मानव के लिए था। वह जिन भी नीतियों का विरोध करते थे वह मानव समुदाय के लिए था। यही उनका व्यापक दृष्टिकोण मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा को स्थापित करता है।

गुरु नानक देव जी ने सन्त-साहित्य में मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए उन बाह्याडम्बरों को मिथ्या समझा जो मानव को मानव के रूप में न देखते हुए विविध कट्टरों में विभाजित करता हो उनके प्रति उनका उग्र रूप हमारे सामने आता है। संतों की भांति तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा तथा जाति-पाति के भेद-भाव आदि की उन्होंने निन्दा की है। क्योंकि यह पाखण्ड मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के अवरोधक हैं। इन सबका विरोध कर उन्होंने समाज को एक ऐसी पगडंडी प्रदान की जिसमें मानवीय

---

20. भूलै भरमि परै जिन कोई ॥

हिंदू तुरूक झूठ कुल दोई।

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 183

गरिमा की झलक दिखाई देती है। गुरु नानक कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति मलीन मन के साथ तीर्थों में स्नान करने जाते हैं, किन्तु वे मन के छोटे और शरीर के चोर होते हैं। स्नान करने से उनका शरीर शुद्ध हो जाता है, किन्तु मन और भी अधिक मलीन हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों की तुलना नानक जी ने कड़वी लौकी से की है, उसे बाहर से चाहे कितना भी धोया जाये, किन्तु उसका भीतरी भाग विषययुक्त होता है<sup>21</sup> इसलिए ऐसे तीर्थ-स्नान से क्या लाभ अगर मन शुद्ध न हुआ। गुरु नानक जी ने राजनैतिक अव्यवस्था के प्रति भी तीव्र रोष प्रकट किया है। तत्कालीन शासकों की शोषण वृत्ति को प्रदर्शित करते हैं। मुसलमानों की धारणा है कि यदि जामें में रक्त लग जाये तो जामा अपवित्र समझा जाता है। इस जामे से नमाज़ नहीं पढ़ी जाती। किन्तु जो मनुष्य का रक्त ही पी जाते हैं अत्याचार तथा जुलम से उनके अधिकारों का हरण कर लेते हैं और हराम की खाते हैं। उनका हृदय कैसे पवित्र रह सकता है। इस दिल से पढ़ी नमाज़ कैसे परवान चढ़ेगी। अतः साफ दिल और स्वच्छ मुख से खुदा का नाम ले, नहीं तो तुम्हारे शेष सारे कर्म संसार के दिखावे मात्र हैं, जैसे तुम झूठे कर्म कर रहे हो<sup>22</sup> इसी तरह तत्कालीन अन्धकारमय शासन व्यवस्था के प्रति नानक मानवीय गरिमा

21. नावण चले तीरथी मनि खोटै तनि चोर।

इक भाउ लथी नातिआ दुइआ चड़ीअसु होर ॥

बाहरि धोती तूमड़ी अंदरि विसु निकोर।

--- नानक वाणी, 466-7

22. जे रतु लगै कपडै जामा होइ पलीतु। जो रतु पीवहिं माणसा तिनकिउ निरमल चीतु ॥

नानक नाउ खुदाय का दिलि हछै मुखि लेहु। अवरि दिवाजै दुनी के झूठे अमल कोरहु ॥1 ॥

--- नानक वाणी 178-8

की प्रतिष्ठा के लिए ऐसी व्यवस्था के प्रति अपना रोष इस प्रकार व्यक्त करते हैं। कलयुग का समय छुरी के समान है, जो वहां राजा लोग हैं वह कसाई हैं और धर्म पंख लगा कर उड़ गया है। झूठ अमावस की अन्धेरी रात की तरह चारों तरफ फैल गया है। सत्य रूपी चन्द्रमा तो कहीं उदित होता दिखाई ही नहीं देता। मैं इस सत्य रूपी चन्द्रमा को ढूंढ़कर व्याकुल हो गई हूँ। अन्धेरे में कोई राह नहीं दीखती। अहंकार के कारण सारी दूनिया दुःखी हो रही है किस तरह इस अन्धेरे से छुटकारा हो। ऐसी शासन व्यवस्था वांछनीय है जहां मानव-मानव को पहचान सके और मानव स्वतन्त्रता पूर्वक जीवनयापन कर सके। इस प्रकार नानक मानव विरोधी तत्त्वों का उन्मूलन कर देने के पक्ष में हैं। ताकि मानवीय गरिमा प्रतिष्ठित हो सके और ऐसा कार्य नानक ने कर दिखाया।

इसी प्रकार रैदास जी में मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा विद्रोह इतना उग्र रूप में विद्यमान नहीं है जितना कबीर तथा नानक में देखने को मिलता है। लेकिन रैदास विनम्र रहते हुए भी मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा को आबद्ध करने वाली प्रत्येक अवधारणा को उखाड़ फेंकने के पक्ष में हैं सामाजिक धरातल पर वे जाति-पाति के बन्धनों का उन्मूलन कर देना चाहते हैं। वे कहते हैं मेरी जाति ओछी है पाति भी ओछी है और यहाँ तक कि जन्म भी ओछा है और मैं राजा राम की सेवा करता हूँ, रविदास चमार यह कहता है<sup>23</sup> इस प्रकार जाति-पाति का गर्व रखने वाले ब्राह्मणों को चुनौती देना

---

23. जाति औछा पाति ओछा, ओछा जनम हमारा।

राजा राम की सेव न कीनी, कहि रविदास चमारा ॥3 ॥

--- संत रविदास वाणी पृ० 88



चाहते हैं कि कोई जाति ऊँची होने से प्रतिष्ठित नहीं होता। उन्होंने मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा इन सभी भेद-भावों से मुक्त होने से की है। इसी तरह रविदास जी ने सबसे पहले हिन्दुओं और मुसलमानों में मित्रता और एकता की आवश्यकता को अनुभव किया। इन्होंने इन दोनों धर्मों के इष्टों, राम और रहीम को एक ही ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित करके इनमें एकत्व की भावना का संचार किया। वे कहते हैं कि एक ही परम तत्त्व को कृष्ण-करीम कह कर दोनों सम्प्रदायों के लोगों को वास्तविकता का ज्ञान कराया। इससे दोनों में एकता का भाव पैदा हुआ। संत रैदास जी की दृष्टि में वेद-कतेब और कुरान-पुरान, में कोई विशेष अन्तर नहीं है।<sup>24</sup> इस तरह संत रैदास जी ने दोनों धर्मों के लोगों को एक दूसरे के निकट लाकर मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा की। अगर निष्कर्ष रूप से कहा जाये तो मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा 'बेगमपुरा' के द्वारा वे करते हैं। रविदास जी ने जिस समाज का निर्माण किया था उसमें ऊँच-नीच की भावना को मंहत्त्व नहीं दिया गया। विभिन्न धर्मों के विभिन्न वर्गों को एक समान महत्त्व प्रदान किया गया। उनमें एकत्व की भावना का निर्माण किया गया। इन्होंने नागरिकों में नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा की और समाज को सुन्दर और समृद्ध बनाया। इनके द्वारा निर्मित समाज में हमेशा सुख और खुशहाली विद्यमान रहती थी। 'बेगमपुरा' के माध्यम से वे मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा को स्थापित करते हुए वे अपने समाज

---

24. कृष्ण करीम, राम-हरि-राघव, जब लग एक न पेष्ठा।

वेद-कतेब कुरान-पुरानन, सहज एक नहिं वेष्ठा ॥

--- संत रैदास (सं० योगेन्द्र सिंह) पृ० 160

का चित्रण इस प्रकार करते हैं:-

बेगमपुरा सहर को नाउ ॥ दूखु अंदोहु नहीं तिहि ठाउ ॥

नां तसवीस खिराजु न मालू ॥ खउफु न खता न तरसु जवालु ॥

अब मोहि खूब वतन गइ पाई ॥ ऊहां खैरि सदार मेरे भाई ॥१ ॥ रघउ ॥

काइमु दाहमु सदा पातिसाही ॥ दोम न सेम एक सो आही ॥

आबादानु सदा मसहूर ॥ ऊहां गनी बसहि मामूर ॥२ ॥

तिउ तिउ सैल करहि जिउ भावै । महरम महल न को अरकावै ॥

कहि रविदास खलास चमारा ॥ जो हम सहरी सु मीतु हमारा ॥३ ॥<sup>25</sup>

रविदास जी ने उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट होता कि उन्होंने मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए साम्यता और स्वतन्त्रता को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया। इन्होंने अपने समाज को दुःख, चिन्ता से रहित बनाया। इसी आधार पर इन्होंने मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा को स्थापित किया।

### निष्कर्ष

अतः कहा जा सकता है कि मध्यकाल में सन्तों ने सबसे अधिक मानव के उस समाज को देखा और परखा था जिसमें अनेक तरह के भेद और संघर्ष थे। उन्होंने सबसे ज्यादा ध्यान मानव की स्वातन्त्र्य चेतना को सामने रखकर धर्म और व्यवहार में लिया था। कबीर की विचारधारा के केन्द्र में मानव-मात्र की एकता विद्यमान थी।

---

25. आदि गुरु ग्रन्थ साहिब, गउड़ी वाणी रविदास जी पृ० 345

एक ही परमात्मा का अंश सभी में विद्यमान है। अतः जाति, वर्ण, धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर उन्होंने मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए इन सभी का विरोध किया। उन्होंने घृणा और अभेद के लिए कोई स्थान नहीं रखा। किन्तु कबीर ने देखा कि मानव ने आपस में भेद की दीवार खड़ी कर दी है। अलग-अलग सम्प्रदायों में बँटकर पारस्परिक वैमनस्य से ग्रस्त है। हिन्दु और मुसलमान में कटुता थी। कबीर ने मानव और मानव के बीच व्याप्त इस कटुता का प्रबल विरोध किया और मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित किया।

इसी तरह गुरुनानक देव ने भी अपने साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य की दृष्टि से मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा के लिए उन बाह्याडम्बरों को मिथ्या समझा जो मानव को मानव के रूप में न देखकर विविध परम्पराओं में जकड़ता हो। उनके प्रति उनका उग्र रूप हमारे सामने आता है। उन्होंने इस सबका विरोध कर समाज को एक ऐसी पगडंडी प्रदान की जिसमें मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा की झलक दिखाई देती है।

सन्त रैदास तो मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा 'वेगमपुरा' के माध्यम से स्थापित करते हैं। क्योंकि सन्त रैदास मानव को मानव के रूप में देखकर दुःख चिन्ता से रहित बताते हैं। इसी प्रकार तीनों सन्त कवियों ने अपने साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा की है।

### 3.3 संत साहित्य में रुढ़िबद्धता से मुक्ति

रुढ़ियाँ समाज में प्रचलित वे धारणायें, मान्यताएं, परम्पराएं, रीति-रिवाज हैं, जो कानून न होकर कानून जैसा प्रभाव एवं महत्त्व रखती हैं। जब किसी विशेष आदत को समाज द्वारा पुनः दोहराया जाता है, तो कालान्तर में वह परम्परा बन जाती है।

उसका पालन करना प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक हो जाता है। उसकी अवहेलना करने पर समाज उस मानव को अपने से वहिष्कृत करके दण्डित करता है। हिन्दू समाज में व्याप्त विवाह सम्बन्धी रुढ़िबद्धता, धार्मिक रुढ़ियाँ, कुरीतियाँ, अस्पृश्यता तथा साम्प्रदायिकता इसी प्रकार की रुढ़ियाँ हैं जो किसी समय सार्थक थीं परन्तु आज सामाजिक उन्नति में बहुत बड़ी बाधा है। आधुनिक युग में आकर इन सभी का सशक्त तथा स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए विरोध हुआ। कबीर के समय में समाज आर्थिक वैषम्य, राजनीतिक एवं धार्मिक विद्रुपताओं से पीड़ित था। कबीर ने धर्म एवं समाज के ठेकेदारों, पंडितों एवं पुरोहितों के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है, जो स्वार्थ-सिद्धि के लिए भोली-भाली जनता को ठगते हैं। सन्त कवियों की दृष्टि में मानव स्वातन्त्र्य सर्वोपरि है, वही समस्त प्राकृतिक शक्तियों का शासक है। जब ऐसा श्रेष्ठ मानव समाज की विषमता की चक्की में पिसता है। तब कवि का संवेदनशील हृदय समाज की धार्मिक रुढ़ियों के प्रति विद्रोह कर उठता है। समाज में प्रचलित नाना प्रकार की रुढ़ियों, अन्धविश्वासों और बाह्याचारों का विरोध व्यक्त हुआ है। कबीरदास ऐसे ही कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए कहते हैं कि मुक्ति का सम्बन्ध न तो नग्न रहने से है और न वस्त्र-सज्जा से ही है। वास्तव में आत्म तत्त्व की पहिचान आवश्यक है। बहुत से योगी यती नंगे ही रहते हैं किन्तु सोचने की बात यह है कि यदि नंगे रहने से मुक्ति होती है तो फिर बन के मृगों को सबसे पहले मुक्ति मिलनी चाहिए। यदि सिर के बाल मुंडाने से मुक्ति मिलती है तो फिर भेड़ों से अधिक मुक्ति का अधिकारी कौन है जो अनेक बार मुंडी गई है। वीर्य की रक्षा और ब्रह्मचार्य भी मुक्ति के एक मात्र दाता नहीं क्योंकि यदि इसी से मुक्ति संभव होती तो फिर बकरे को भी इसकी

प्राप्ति होती। पढ़ने और अध्ययन करने से भी विशेष सहायता नहीं मिलती क्योंकि इससे अहंकार की उत्पत्ति होती है।<sup>26</sup> इसी प्रकार मानव को धर्मगत संकीर्णताओं से स्वतन्त्र करने के लिए सन्तों ने धार्मिक रुढ़ियों का तीव्र स्वर में प्रतिरोध किया। मूर्तिपूजा का प्रतिरोध करते हुए कबीर कहते हैं। “हे मानव! तू शालिग्राम की पूजा करता है किन्तु तेरे मन मन का भ्रम तो जाता नहीं। शीतलता अर्थात् शान्ति तो तुम्हें सपने में भी नहीं मिलती और जो भ्रान्ति है वह दिन प्रतिदिन ओर भी बढ़ती जा रही है।”<sup>27</sup> इस तरह ऐसी पूजा से क्या लाभ जो मानव को भ्रम में फंसा दे। अर्थात् रुढ़ियों में बांध दें। परलोक की अवधारणा का विरोध करते हुए वे मानव को वर्तमान जीवन को ही सुव्यवस्थित ढंग से जीने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं, “हे राम, तुम मुझे इस भव सागर से पार ले जाकर कहा पर ले जाओगे। आप मुझे बतलाओ कि वह वैकुण्ठ कैसा है जो तुम अपनी कृपा से मुझे दे रहे हो। यदि तुम अपने और मुझमें निरन्तर द्वैत-भाव मानते हो तो मुझे मुक्ति का मार्ग बताओ, जिससे मैं तुम्हारे स्वरूप में लीन हो जाऊँ और मेरे भीतर कोई भ्रम न शेष रह जाये। तारने एवं तरने की बातें तब तक ही की जाती हैं तब तक प्रभु का ज्ञान नहीं हो जाता। कबीर मन में प्रभु की

---

26. का नाँगे का बाँधे चाम। जी नहिं चीन्हसि आतम राम।

नाँगे फिरे जोग जो होई। बन का मृग मुकति गया कोई।

27. सेवें सालिगराम कूं मन की भ्रान्ति न जाई।

शीतलता सुपिनै नहीं, दिन दिन अधिकी लाई ॥6॥

सत्ता को स्वीकार कर सर्वत्र प्रभु के ही दर्शन करता है।'<sup>28</sup> इसलिए मानव को चाहिए कि स्वतन्त्र रहने के लिए स्वर्ग-परलोक को नाकार दे। कबीर कालीन समाज में राम-रहीम के नाम पर बड़ा मतभेद था। हिन्दू अपने राम को महत्त्व देते थे और मुसलमान अपने रहिमान को महत्त्व देते थे। एक तरफ काजी मुल्ला अपने मजहब के पक्के थे तो दूसरी तरफ पण्डित, पाँडे अपने धर्म के प्रति कटिबद्ध थे। कोई भी वर्ग किसी दूसरे धर्म के सामने झुकना पसन्द नहीं करता था। हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्ग अपनी-अपनी धार्मिक परम्पराओं को लेकर जीना चाहता था। कबीर ने दोनों की इस रुढ़िबद्धता पर विचार किया और दोनों को फटकारा। उन्होंने काजी को सम्बोधित करते हुए कहा कि काजी! “तुम किस कुरान की प्रसंसा करते हो। कुरान पढ़ते-पढ़ते कितने दिन बीत गये पर एक बात भी समझ में नहीं आयी। आप तो खतना कराके मुसलमान बन जाते हो, पर औरत को कैसे मुसलमान बनाओगे ? पत्नी हिन्दू और पति मुसलमान! यह कैसा असंगत धर्म है। जो एक ही परिवार की दो जातियों

---

28. राम मोहि तारि कहां ले जेहो।

सौ बैकुंठ कहो हूँ कैसा, करि पसाव मोहि देहौ ॥

जो मेरे जीव दोई जानत हो, तौ मोहि मुक्ती बताओ।

एकमेक रमि रहय्या सबनि में, तौ काहै भरमावौं ॥

तारण तरण जबै लग कहिए, तब लग तत न जाना।

एक राम देख्या सबहिन में, कहे कबीर मन माना ॥2 ॥

--- कबीर ग्रन्थावली सटीक पृ० 368

में बाँट देता है।<sup>29</sup> इस लिए जाति के नाम पर वर्ग बनाना अज्ञान है तथा जाति के नाम विविध ईश्वर की कल्पना करना भी मूर्खता है। इन विरोधी भावनाओं के कारण ही हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दूसरे को पराया समझते थे। ईश्वर के नाम पर साधारण जनता में भेद तो था ही पर पांडे, मुल्ला भी टकरा जाते थे। मुल्ला मस्जिद में नमाज़ पढ़ते थे और अल्लाह का नाम लेकर चिल्लाते थे। हिन्दू मन्दिर में जाकर मूर्ति की उपासना करते थे और माला का जाप करते थे। मुल्ला की इस रुढ़िबद्धता को देखते हुए कबीर ने कहा कि, अरे मुल्ला! किसको दूर तक पुकारते हो, राम-रहीम तो सभी जगह में व्याप्त है।<sup>30</sup> यह बात तो पूरी दूनियां जानती है कि ईश्वर इसलिए यह न तो गूंगा है और न ही बहरा यह मुल्ला वर्ग झूठा है। राम-रहीम तो सबमें व्याप्त है।<sup>31</sup> अतः मुसलमानों की नमाज़ और एक खुदा की बात भी झूठी है।

---

29. काजी कौन कतेब बषाने ॥

पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहिं जाने ॥

सकति से नेह पकरि करि सुनति यहु नबदूँ रे भाई ॥

जौ रे खुदाई तुरूक मोहि करता तौ आपै कटि किन जाई ।

हौ तौ तुरूक किया करि सुनति औरति सों का कहिये ।

अरध सरीरी नारि न छूटे आधा हिन्दू रहिये ।

--- कबीर, ग्रन्थावली पृ० 83 पद 59

30. मुला कहा पुकारै दूरि । राम रहीम रह्या भरपूरि ॥

यहु तो अलह गूंगा नांही । देखे खलक दूनी दिल मांही ।

--- कबीर, ग्रन्थावली पृ० 83 पद 60

31. कहे कबीर यह भूलना झूठा । राम रहीम सबनि में दीठा ॥

पृ० 83 पद 60

ईश्वर घर-घर में निवास करता है।<sup>32</sup> हिन्दु समाज भी इन्हीं रुढ़ियों से ग्रस्त था इनमें भी इसी प्रकार की धारणा थी कि ईश्वर मूर्ति उपासना से,<sup>33</sup> माला पहनने और तिलक लगाने से,<sup>34</sup> तथ्य तीर्थ व्रत करने से मिल सकता है।<sup>35</sup> पर यह सब रुढ़ियाँ हैं और यह अज्ञानियों की पाखण्डपूर्ण धारणा थी। इसीलिए कबीर ने कहा था कि लोग राम को खिलौना समझते थे। जिस रूप में जो चाहता है उसी रूप में उसकी उपासना करने लगता है। वास्तव में यह संसार बावला है। यदि तीर्थ स्थान करके वेद-पुरान तथा स्मृति का पाठ करके ईश्वर को पाना चाहता है तो यदि तीर्थ स्थान से ही मुक्ति मिलती तो सभी मछलियाँ मुक्त हो जातीं। यदि बनारस में गंगा-स्नान से मुक्ति मिलती तो आज तक सभी मानव मुक्त हो गए होते और फिर विविध योनियों में जन्म लेने से संकट से छुटकारा मिल जाता।<sup>36</sup> पण्डितों में पारलौकिक कल्पना बड़ी महान् थी।

---

32. मुसलमान कहैं एक खुदाई कबीरा कौ स्वामी घटि-घटि रह्यो समाई ॥

--- वही पृ० 150 पद 330

33. पाहण केरा पूतला करि पूजैं करताल ॥ क० ग्र० पृ० 34

34. माला तिलक पहरि मन माना। लोगनि राम खिलौना जाना ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 153 पद 343

35. मन में मैला तीर्थ न्हावै तिनि वैकुण्ठ न जाना ॥

पाखण्ड करि करि जगत भुलावा नाहिन राम अयाना

--- वही पृ० 153 पद 345

36. जल के मंजन्य जो गति होई मीनां नित ही न्हावै ।

जैसा मीनां तैसा नरा फिरि-फिरी जोनी आवै ॥

मन में मैला तीर्थ न्हावै तिनि बैकंठ न जाना ।

पाखण्ड करि करि जगत भुलाना नहिन राम अयाना ॥

हिरदे कठोर मरे बनारसि नरक न बंच्या जाई ।

हरि कौन दास मरे जे मगहरि सेन्या सकल तिराई ॥

पाठ पुरान वेद नहिं सुमृत तहाँ बसै निराकारा ।

कहैं कबीर एक ही ध्यावो धावलिया संसारा ॥345 ॥ --- कबीर ग्रन्थावली पृ० 153



उन्हें इस संसार पर उतना भरोसा नहीं था जितना कि स्वर्ग पर। इसी प्रकार वे पूरी तरह व लग्न के साथ वेद-पुराण तथा स्मृति में लगे हुए थे। इसी प्रकार काजी और मुल्ला भी अपने कुरान पर विश्वास कर बैठे थे। इस समाज में स्थित इन दोनों जातियों की रुढ़ियों को देखकर कबीर असन्तुष्ट थे। वे हिन्दुओं की मूर्ति पूजा तथा मुसलमानों की नमाज, हिन्दुओं के मन्दिर तथा मुसलमानों की मस्जिद, हिन्दुओं के व्रत-उपवास, मुसलमानों के रोजा, हिन्दुओं की तीर्थ यात्रा, मुसलमानों के हज,<sup>37</sup> हिन्दुओं की माला,<sup>38</sup> इन सभी रुढ़ियों के कबीर विरोधी थे जो कि मानव को जकड़े हुई थी। क्योंकि इसी रुढ़िबद्धता में जकड़ कर मनुष्य संकुचित सीमाओं से छोटा हो गया था। उसका एक दूसरे से व्यवहार टूट गया था। उसमें विविध भेद की दीवारें खड़ी हो गयी थी। इसलिए कबीर ने कहा कि अगर मानव का मानव से ही व्यवहार ठीक नहीं तो स्वर्ग, वहिश्त् से क्या होगा ? पूजा, नमाज का क्या उपयोग ? माला फेरने का क्या महत्त्व ? वे तो वह रुढ़ियाँ हैं जो मानव को अपने शिकंजे में कसे हुए हैं। इन सब कर्मों से न तो सुख मिलने वाला है और न मानव की स्वतन्त्रता।

हिन्दू धर्म में अनेक पाखण्ड जुड़ गये थे। इन कर्मकाण्डों के संचालक पण्डित या पांडे थे जो जनता को अनेक तन्त्र मन्त्रों के आकर्षण से मुग्ध किए थे। ये कर्मकाण्ड रुढ़ियों का रूप धारण कर चूके थे जिसका पालन करना सामाजिक प्रतिष्ठा की बात थी।

---

37. रोजा करे नमाज गुजारें क्या हज काबे जाये ॥259 ॥

-- वही पृ० 131

38. कर खेती माला जपै, हिरदै बहै डंडूल ॥56 ॥

-- वही पृ० 82

इसलिए सबको उन रीति-रिवाजों पर चलना पड़ता था। यहाँ गुरु-शिष्य दोनों का आधार मूर्ति पूजा थी। इसलिए दोनों पत्थर की नाव पर चढ़कर जीवन धारा में डूब मरे।<sup>39</sup> अर्थात् पत्थर पूजा के फेर में पड़कर वे लोग कोई सामाजिक प्रगति का कार्य न कर सके। कबीर ने इन रुढ़ियों से मानव को स्वतन्त्र कराने की भरसक चेष्टा की थी।

गुरु नानक देव राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक उथल-पुथल के बीच एक क्रान्तिकारी का रूप धारण कर उपस्थित हुए। उन्होंने परम्परा द्वारा प्रचलित रुढ़िबद्धता से मुक्त कर समाज को एक ऐसी पगडंडी प्रदान की जिस पर सही ढंग से चलकर मानव की स्वतन्त्रता को देखा जा सके।

हिन्दुओं के जप, तप और संयम को उन्होंने निरर्थक बतलाया है। उन्होंने हिन्दुओं से कहा कि इन सबों का साधना करने से, तीर्थ स्थानों पर जाकर निवास करने से, अथवा पुण्य, दान एवम् शुभकर्म करने से तब तक कोई लाभ नहीं, जब तक कि सच्चे हृदय से परमात्मा की आराधना न की जाये।<sup>40</sup> हिन्दुओं में प्रचलित सूतक की उन्होंने निन्दा की है। संतान उत्पन्न होने तथा मृत्यु के कुछ दिन बाद हिन्दू समाज में सूतक माना जाता है और समय पूरा होने के पश्चात् इस अशुद्धि से निवृत्त होने के

39. ना गुरु मिल्या ना सिष भया लालच खेल्या दाव

दून्यू बूड़े धार में चढ़ि पाथर की नाव ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 2

40. जपु तपु संजमु साधीऐ तीरथि कीचै वासु।

पुंन दान चंगिआईआ बिनु साचे किआ तासु ॥

--- नानक वाणी पृ० 149

लिए पवित्रता को अपनाया जाता है। संत नानक जी ने इसे अशुद्धि नहीं माना और कहा यदि यह अशुद्धि है तो सब स्थान अशुद्ध है जिस गोबर के गोइठे और लकड़ी पर भोजन बनाया जाता है उसमें कीड़े होते हैं। अन्न का प्रत्येक दाना जीव-युक्त है। सर्वप्रथम पानी ही जीव है, जिस पर सबकी जिन्दगी निर्भर है, उसी के द्वारा प्राकृतिक वस्तुएं भी हरी-भरी रहती हैं।<sup>41</sup> अतः सूतक का विचार कैसे किया जा सकता है, क्योंकि सूतक तो हमेशा रसोई घर में ही रहता है। इसलिए हमारे मन से सूतक नहीं उतर सकता यह तो ज्ञान द्वारा ही उतारा जा सकता है।<sup>42</sup> उन्होंने मानव की प्रत्येक इन्द्रियों को अशुद्ध अथवा सूतक से युक्त बतलाया है।<sup>43</sup> इस प्रकार मन, जिह्वा, आंख तथा कान आदि में भी सूतक मानना चाहिए। वस्तुतः भ्रम का दूसरा नाम सूतक है। यह भ्रम रूपी सूतक मायासक्त व्यक्तियों को ही लगता है। अतः यह व्याज्य है। इसी

41. जे करि सूतकु मंगीऐ समतै सूतकु होइ ।  
गोहे अते लकड़ी अंदरि कीड़ा होइ ॥  
जेते दाणे अन के जीआ बाझु न कोइ ।  
पहला पाणी जीउ है जितु पहरिआ समु कोइ ॥  
--- नानक वाणी 35 पद 37
42. सूतक किउ करि रखिऐ सुतकू पवै रसोइ ॥  
नानक सूतकु एव न उतरे गिआनु उतारे धोइ ॥  
--- नानक वाणी पृ० 351 पद 37
43. मन का सूतकु लोभु है जिह्वा सूतकु कुडु ।  
अरवी सुतकु वेखणा परतुअ परधन रूप ॥  
कनी सूतकु कनि पै लाइत बारी खाहि ।  
--- नानक वाणी 351 पद 38

तरह उन्होंने मुसलमानों की रुढ़ियों की भी निन्दा की है और कहा है कि, “अन्दर बैठकर चोरी-चोरी तुर्क हाकियों की पूजा करने से और लोगों को दिखाकर कुरान पढ़ने से कोई लाभ नहीं।”<sup>44</sup> उन्होंने काजियों के प्रति कहा है कि मुसलमान काजी मनुष्य भक्षी है, रक्त चूसने वाले शोषक हैं, किन्तु नमाज पढ़ते हैं।<sup>45</sup>

गुरु नानक देव ने कहीं-कहीं तो हिन्दुओं और मुसलमानों को एक साथ सचेत करते हुए बतलाया है कि रुढ़ियाँ व्यात्य है। उन्होंने स्वार्थ की निन्दा करते हुए कहा है कि-

सासतु वेदु न मौन कोई। आपो आपै पूजा होई।<sup>46</sup>

अपने स्वार्थ की पूजा के प्रमाण उन्होंने काजी, हिन्दू तथा योगी के तत्कालीन जीवन से ही लिए हैं। काजी होकर न्याय के आसन पर बैठ कर, दिखाने के लिए माला जपता है, खुदा का नाम रखता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि वह रिश्वत लेकर सच्चाई को त्याग देता है और यदि उससे इसका कारण पूछा जाता है तो कुछ न कुछ पढ़कर सुना देता है।<sup>47</sup>

44. अंतरि पूजा पड़हि कतेबा संजमु तुरका भाई।

छोड़िये पांखड़ा। नाभि लइए जाहि तरंदा ॥ --- नानक वाणी 632 पद ॥

45. नानक वाणी पृ० 562-1

46. काजी होइकै बहै निआई। फेरे तसबी करे खुंदाइ।

बढ़ी लैके हकु गवाए। जे को पूछै ता पड़ि सुआए। --- नानक वाणी 562 पद।

47. तुरक मंत्रु कनि रिदै समाहि। लोक मुहाणहि चाड़ी खाहि।

चउका दे के सुचा होई। ऐसा हिंदू बेखहु कोइ।

-- वही 562-1

हिन्दुओं की स्थिति भी हिन्दू तूकों जैसी ही है, तूकों का मंत्र कान तथा हृदय में वसाते हैं, लोगों को लूटते हैं, चुगली करते हैं, किन्तु दुनिया को दिखाने के लिए चौका देकर पवित्र बनते हैं।<sup>48</sup> इसी तरह गुरु नानक देव जी ने हिन्दुओं की रुढ़ियों तथा प्रथाओं पर व्यंग्य करते हुए कहा है- हिन्दू के थरि हिन्दू आवै! सूतु जनेऊ पडि गलि पावै।

सूतु पाइ करे बुरिआई। नाता धोता थाइ न पाई।<sup>49</sup>

यदि उसे धारण कर अपने चरित्र का सुधार न किया जाये तो उस जनेऊ से कोई लाभ नहीं।

कुछ लोग सिर के बाल उतरवा कर मूंड मुंडवाकर घूमते हैं। कुछ बालों को बढ़ाकर जटाएँ रखते हैं, कुछ लम्बी शिखा रखते हैं और कुछ अभिमान वश मौन धारण किये रहते हैं, किन्तु बिना ब्रह्मा-ज्ञान के दिशाओं में भ्रमण करना कोई अर्थ नहीं रखता। माया-वश दीवाने बनकर लोग अमृत को त्याग कर का पान करते हैं।<sup>50</sup> कुछ लोग तीर्थों में स्नान करते हैं और अन्न नहीं खाते हैं। कुछ हठयोगी शरीर को आग में जला डालते हैं किन्तु राम नाम के बिना उन्हें मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। अर्थात् यह रुढ़िबद्धता में जकड़ी हुई समस्त जनता यह नहीं जानती कि राम नाम के

48. --- नानक वाणी पृ० 562-2

49. मूंड मुडाइ जटा सिख बाधी मोनि रहै अभिमाना।

मनूआ डोलै दसदिस धावै बिनु रत आतम गिआना।

अमृत छोड़ि महा बिखु पीवै माइआ का देवाना।

--- नानक वाणी पृ० 597 पद 7-5

50. --- नानक, वाणी पृ० 346-29

बिना मन की स्वतन्त्रता असम्भव है।

इसी प्रकार गुरु नानक देव ने ब्राह्मण, काजी को सही मार्ग पर चलने की सलाह दी। वो तभी सही मार्ग का अनुसरण कर सकता है यदि इन रुढ़ियों की गिरिफ्त से बचा रहे।

गुरु नानक देव जी ने अपने व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कुछ रुढ़ियों का भी खण्डन किया और समाज के लोगों को बतलाने का प्रयत्न किया कि रुढ़ियों एवम् परम्पराओं को समझना चाहिए। रीति-रिवाजों को सोच-समझ कर अपनाना चाहिए। उन्होंने स्वयं भी जनेऊ पहनने से इन्कार किया और बतलाया कि यदि जनेऊ पहनना ही है तो वास्तविक पहनो। इसी बात को वह पण्डित से कहते हैं कि अगर तुम मुझे वास्तविक जनेऊ पहना सकते हो तो मैं पहनने के लिए तैयार हूँ वह जनेऊ कैसा है, इसको बतलाते हुए वह कहते हैं कि, “दइआ कणहि संतोख सूतु जतु गंदी सतु वटु ॥”<sup>51</sup> अर्थात् दया कपास हो, संतोष का सूत हो, संयम ही गांठ हो और सत्यगुण ही पूर्ण हो। यदि तुम इस प्रकार का जनेऊ पहना सकते हो तो हे पण्डित! मेरे गले में पहना दो क्योंकि यह जनेऊ कभी नष्ट होने वाला नहीं-

“ना एहु तूटै न मलु लगै न एहु जलै न जाई।”<sup>52</sup>

51. --- नानक वाणी पृ० 346 पद 29

52. चउकड़ि मुलि अणाइआ वरि चउकै पाइआ।

सिखा कैनि चड़ाईआ गुरु ब्राह्मणु किआ।

ओहु मुआ ओहु झड़ि पइआ वे तगा गइआ ॥

--- नानक वाणी पृ० 346 पद 29

पंडित तो चार कौड़ी देकर जनेऊ मंगवा लेता है। यजमान के चौके में बैठकर उसे पहना देता है और उसके कानों में कुछ उपदेश देकर कहता है कि अब ब्राह्मण ही उसका गुरु है। मृत्यु पर्यन्त वह जनेऊ यजमान के गले से गिर जाता है और चिन्ता में ही जल कर भस्म हो जाता है, जीव के साथ वह नहीं जाता।<sup>53</sup> इस प्रकार दुनिया की दृष्टि में वह दिखाने मात्र के लिए जनेऊ धारण कर सज्जन बनना चाहता है। यह सब तो एक मात्र रुढ़ि है ईश्वर की स्तुति ही वास्तविक जनेऊ है। जिसे धारण करने पर परमात्मा के दरबार में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इस प्रकार गुरु नानक देव के अनुसार प्राचीन काल से चली आ रही रुढ़ियाँ व्यर्थ हैं। अतः व्याज्य है।

इस तरह धार्मिक धरातल पर फैली अनुचित परम्पराओं जिनका रूप रुढ़ियों ने धारण कर लिया था। इनका विरोध रविदास ने भी किया है। सगुणोपासना का विरोध करते हुए रविदास कहते हैं, “मैं राम का दास हूँ। स्वयं को भक्त नहीं कहलाता। न किसी देव के चरण छूता हूँ। ऐसा जो-जो भी कर्म करता हूँ वह बजाये इसके कि मुझे स्वतन्त्र करे और भी बाँधता है। इस तरह तो स्वतन्त्रता और भी परे हो जाती है।”<sup>54</sup> अर्थात् मानव को इन सब भ्रमों से अपने आप को स्वतन्त्र रखना चाहिए।

---

53. राम जन होऊं न भगत कहाउं चरन पधालू न देवा ।

जोई जोई करौं उलटि मोहि बांधे, तातै निकट न मेवा ॥ --- संत रविदास वाणी पृ० 88

54. भ्रम नाचण भ्रम गावण, भ्रम जप तप दानि ।

भ्रम सेवा भ्रम पूजा, अरू भ्रम सूं पहिचानि ॥1 ॥

भ्रम षट् करम सकल संहिता, भ्रम गृह बन जानि

भ्रम करि करि करम कीये, भ्रम की यहु वानि ॥2 ॥

भ्रम इन्द्री निग्रह कीया, भ्रम गुहा में बास ।

-- वही पृ० 7

प्रभु भक्ति के लिए नाचना-गाना, जप, तप और गान सब भ्रम है, सेवा-पूजा भी भ्रम है क्योंकि इन सब से भी प्रभु प्राप्ति नहीं होती। इसलिए भ्रम को पहचान घट्कर्म भी भ्रम है, ग्रह तथा वन भी भ्रम हैं। हे मानव तुमने सब कर्म भ्रम में ग्रस्त होकर किये। इन्द्रिय-निग्रह भी भ्रम है और गुफा में वास भी भ्रम है। क्योंकि इनसे प्रभु प्राप्ति नहीं हो सकती।<sup>55</sup> इसी प्रकार रुढ़ियाँ तीर्थ-व्रत, मूंडमुंडाना आदि क्रियाकलाप मानव को स्वतन्त्र नहीं कर सकते। अरे भाई सुनो! भक्ति तो ऐसी होती है कि जब हृदय में भक्ति का उद्रेक हो जाता है तो अपने आप मन का सारा अहंकार मिट जाता है। नाचने-गाने, तप करने से क्या होता है। देव के चरण स्पर्श से भी क्या होता है। जब तक तुमने परम तत्त्व नहीं देखा। मूंड मुंडाने और तीर्थ-व्रत करने से भी कुछ प्राप्त नहीं होगा। अपने स्वामी का दास अथवा भक्त और सेवक होना भी तब तक सार्थक नहीं है जब तक परम तत्त्व का ज्ञान न हो जाये।<sup>56</sup> अर्थात् यह तो मानव स्वातन्त्र्य के पथ में अवरोध मानने वाली रुढ़ियाँ हैं जो कि मानव को जकड़े हुए हैं। मानव

---

55. भगति औसी सुनहु रे भाई, आई भगति तउ गई बड़ाई ॥ टेक  
 कहा भयौ नाचै अरू गायें, कहा भयो तप कीन्हें ।  
 कहा भयौ जौ चरन पधालें, जो लौ परमतत्त्व नहीं चीन्हें ॥1 ॥  
 कहा भयौ जे मूंड मुंडायौ, कहु तीरथ व्रत कीन्हे ।  
 स्वामी दास भगत अरू सेवक, जौ परमतत्त्व नहीं चीन्हें ॥2 ॥  
 --- संत रविदास वाणी पृ० 76

56. हम न मरब मरिहैं संसारा ।  
 हमका मिलां जियावन हारा ।  
 --- कबीर ग्रन्थावली पृ० 80 पद 43



इन सबसे मुक्ति चाहता है ताकि वह परम तत्त्व को पहचान सके। ऐसी रुढ़ियों से मानव को मुक्त होना चाहिए। तभी मानव स्वतन्त्र चेतना से परम तत्त्व की प्राप्ति कर सकता है।

### निष्कर्ष

अतः हम कह सकते हैं कि मध्यकाल में समाज में प्रचलित धारणाएं, मान्यताएं, परम्पराएं, रीति-रिवाज आदि ऐसी रुढ़ियाँ थी। जिनका पालन करना प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक हो गया है। अगर उसकी अवहेलना की जाती थी तो समाज उस मानव को अपने से वहिष्कृत करके दण्डित करता था। सन्त कवियों ने सशक्त तथा स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए इन सब का डटकर विरोध किया। कबीर के समय में समाज रुढ़ियों में जकड़ा हुआ था। कबीर ने धर्म एवम् समाज के ठेकेदारों, पंडितों, मुल्ला, पुरोहितों आदि के प्रति आक्रोश व्यक्त किया, जो स्वार्थ-सिद्धि के लिए भोली-भाली जनता को ठगते थे। क्योंकि कबीर की दृष्टि में मानव स्वातन्त्र्य सर्वोपरि था, वही तो समस्त प्राकृतिक शक्तियों का शासक है। जब ऐसा श्रेष्ठ मानव समाज की विषमता की चक्की में पिसता है। तब कवि का संवेदनशील हृदय समाज की धार्मिक रुढ़ियों के प्रति विद्रोह कर उठता है। और ऐसा विद्रोह इन तीन सन्त कवियों के साहित्य में देखने को मिलता है। इन तीन सन्त कवियों ने मानव को रुढ़िबद्धता से मुक्त कराया। और मानव स्वातन्त्र्य के प्रति विशेष बल दिया।

### 3.4 संत साहित्य में बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति

संत साहित्य में बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में बाह्याडम्बरों का विरोध करने से हुई है। सन्त बुद्धि व तर्क को आधार

मानकर भक्ति के माध्यम द्वारा मानव स्वातन्त्र्य के लिए सतर्क रहते थे। सर्वप्रथम सन्त कबीर बुद्धिवादिक के समर्थक थे। उन्होंने कर्मकाण्ड, स्वर्ग-नरक, वेद-कथन धार्मिक आचारादि के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था। वह पूर्ण बुद्धिवादी है। छुआछूत पर तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति करवाते हुए वे उसके ठेकेदार पंडितों से ही प्रश्न करते हैं कि हे पांडे, तुम्ही बतलाओ कौन सा स्थान पवित्र है, जहाँ बैठकर भोजन किया जाए। संसार में वास्तव में कोई वस्तु कर्म और स्थल ऐसा नहीं जो पवित्र हो। इस प्रकार कबीर ने अस्पृश्यता मानने वाले पंडितों को अपने शुद्ध बुद्धिवाद से निरुत्तरित कर दिया है। कबीर बौद्धिकता और तार्किकता के धनी थे। उन्हें कोई भी धर्म झुका नहीं सकता था। कोई भी विचार पथ भ्रान्त नहीं कर सकता था। इसलिए उन्होंने जो कुछ कहा बुद्धि के साथ और तार्किक ढंग से उसकी स्वीकृति प्रस्तुत की। व्यक्तित्व की इसी ऊँचाई पर खड़े होकर उन्होंने आत्म-विश्वास के साथ कहा था- “हम नहीं मरेंगे, संसार भले मर जाय। मुझे तो जिलाने वाला मिल गया है।”<sup>57</sup> मध्ययुगीन समाज में लोग अन्ध परम्पराओं की धारा में बहे जा रहे थे। विषय वासनाओं के जाल में उलझ कर कष्ट भोग रहे थे। धरातल का यह अन्तर उनके हृदय को खीझ और क्षोभ से भर देता है, इसलिए उनके तर्क अकाट्य और सोचने को बाध्य करने वाले होते हैं वह मानव को बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति जाति का गर्व रखने वाले ब्राह्मणों से यह कहकर करवाते हैं कि- “यदि तुम ब्राह्मण-ब्राह्मणी होकर पैदा

---

57. जे तूँ बामन बमनी जाया तो आन बाट है कहै न आया।

जे तूँ तुरक तुरकनी जाया तौ भीतरि खतना क्यूँ न कराया।

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 79 पद 41

हुए हो तो दूसरे रास्ते से क्यों नहीं पैदा हुए ? जो तुम तुर्क-तुर्कनी बनते हो तो क्यों भीतर से खतना करा के आये ?''<sup>58</sup> मानव की स्वातन्त्र्य चेतना को देखते हुए कबीर बुद्धि द्वारा इन पण्डितों एवं मुल्लाओं के सामने ऐसी-ऐसी बातें तार्किक ढंग से पेश करते थे कि पण्डित और मुल्ला दोनों हैरान थे। तत्कालीन समाज में निहित काजी, मुल्ला एवम् पण्डितों के दुष्कर्म को देखते हुए वे कहते हैं कि एक वो है जो अपने को मुल्ला एवम् काजी कहते हैं। राम के लिए सब व्यर्थ में पाखण्ड करते हैं। एक ये ब्राह्मण है जो नव ग्रह और बारह राशि की बातें करते हैं वे भी मृत्यु पर भी विजय नहीं पा सके।<sup>59</sup> ग्रह शरीर तो नश्वर है केवल सत्य हरि का नाम है। शरीर की अस्थिरता एवम् नश्वरता को देखते हुए भी लोग छूत-अछूत एवम् ऊँच-नीच की बातें करते हैं। इसलिए कबीर बौद्धिक स्तर पर ऐसे लोगों को पूरी तार्किकता के साथ सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि- "अरे पांडे! तुम क्यों छूत-अछूत की बात करते हो ? यह

58. एक कहावत मुल्ला काजी। राम बिना सब फोक्टवाजी ॥

नव ग्रिह बांमण भणता रासी। तिनहू न काटी जम की फांसी ॥

कहैं कबीर यह तन काचा। सब्द निरंजन राम नाम सांचा ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 201 पद 142

59. काहे कौ कीजै पांडे छोति विचारा।

छोतिहि तैं उपना सब संसारा ॥

हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।

तुम कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद ॥

छोति छोति करता तुम्हहीं जाए।

तौ गर्भवास कहें कौन आए ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 79

संसार तो छूत से ही पैदा हुआ है। बिना छूत स्पर्श अथवा दो वस्तुओं के संयोग से कोई चीज निर्मित ही नहीं होती। इसलिए वे पण्डित से पूछते हैं कि मेरा शरीर कैसे रक्त से बना है और तुम्हारा शरीर कैसे दूध से। अर्थात् दोनों के शरीर में एक ही प्रकार का रक्त होने पर भी एक कैसे पवित्र बन सकता है और दूसरा कैसे अपवित्र ? तुम कैसे ब्राह्मण हो और मैं कैसे शुद्र हूँ। तुमने ही सारा छूत का आडम्बर पैदा किया है। अर्थात् तुम्हारे द्वारा बनाई गई धारणा है यदि तुमने छूत से बचना था तो कैसे गर्भवास में आये ?<sup>60</sup> कबीर बौद्धिक स्तर पर इस तर्क के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि ऐसे आदमी को तो संसार में पैदा ही नहीं होना चाहिए। जो मानव स्वातन्त्र्य के लिए छूत-अछूत का भेद पैदा करे। इन पण्डितों के पास शारीरिक भेद भाव के साथ-साथ वैचारिक भेद-भाव भी था। ये पण्डित झूठे शब्दों पर मरते थे जिसे देखकर कबीर ने तार्किक ढंग से कहा कि पण्डित झूठ मूठ के वाद और सम्प्रदाय की बात करते हैं। यदि राम कहने से यह संसार दुःख से मुक्त हो जाता है तो खाँड़ शब्द के उच्चारण से मुँह मीठा होता है। क्या पावक शब्द कहने से पाँव जल सकता है अथवा जल कहने से प्यास बुझ सकती है ? यदि भोजन कहने से सबकी भूख मिट जाये तो सभी मनोवांछित फल पा जायें ?<sup>61</sup> इसी तरह पण्डित लोग

60. पंडित वाद वदन्ते झूठा ॥

राम कह्या दुनिया गति पावै खांड कह्या मुख मीठा ॥

पावक कह्या पाँव जे दाँजै जल कहि त्रिपा बुझाई ॥

भोजन कह्या पाँव जे भाजै तो सब कोई तिरि जाई ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 73 पद 40

61. मुलां कहां पुकारै दूरि। राम रहीम रह्या भर पूरि ॥

यहु तो अलह गूंगा नांही। देखे खलक दुनी दिल मांही।

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 83 पद 60

इन गलत नीतियों में उलझ कर जनता को भ्रम में डाले हुए थे। कबीर ने मानव स्वातन्त्र्य में अवरोध मानने वाली गलत नीतियों को उखाड़ फेंकने के लिए बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति दी। हिन्दु और मुल्ला की उपासना को देखते हुए कबीर बुद्धि व तर्क से कहते हैं कि हिन्दू मन्दिर में जाकर मूर्ति की उपासना करते थे और माला का जाप करते थे। मुल्ला के इस व्यर्थ डकोसले को देखते हुए कबीर ने कहा कि अरे मुल्ला! “किसको दूर तक पुकारते हो, राम रहीम तो हर जगह व्याप्त है।”<sup>62</sup> यह बात तो पूरा संसार जानता है कि ईश्वर न तो गूंगा है और न ही बहरा। इसलिए यह मुल्ला वर्ग झूठा है। राम-रहीम तो सब में व्याप्त है।<sup>63</sup> इसी प्रकार पिण्ड दान से अपने पितरों को तृप्त समझने वालों पर बौद्धिक एवम् तार्किक ढंग से व्यंग्य करते हैं- “कि जीते जी तो पिता को डण्डे से मारते हैं और मरने पर गंगाजल से श्रद्धांजली देते हैं। जीवत अवस्था में तो पिता को अन्न नहीं खिलाते। लेकर उसके मरने के उपरान्त उसके नाम के पिण्ड भरते हैं।”<sup>64</sup>

इन्हीं दुर्व्यवहारों से मानव को स्वतन्त्र करने के लिए कबीर

62. कहै कबीर यह भुलना झूठा। राम रहीम सबनि में दीठा ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 83 पद 60

63. जीवत पित्रंहि मारहिं डंडा ॥ मूवा पित्र लै घालैं गंगा ॥

जीवत पित्र कूँ अन्न न ख्वावै। मूवा पीछै प्यंड भरावै ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 156 पद 356

64. पड़ि पड़ि पोथी सिंमृति पाठा। वेद पुराण पड़ै सुणिथारा।

बिनु रस राते मनु बहु नाटा।

--- नानक वाणी पृ० 231

ने बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति दी। सत्य को ऐसी बौद्धिकता और तार्किकता से कहने का यह तेवर कबीर का अपना है।

इसी प्रकार गुरुनानक देव बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति सन्त साहित्य में यह कहकर करवाते हैं कि- “पुस्तकों को पढ़ने से, स्मृतियों का पाठ करने से अथवा वेद, पुराण पढ़ने और सुनने से लाभ नहीं। वास्तविक तत्त्व है परमात्मा के प्रति। इसलिए बाह्याडम्बरों को त्याग कर सच्चे हृदय से परमात्मा की ओर बढ़ना चाहिए।”<sup>65</sup> इसी तरह उनका ब्राह्मणों के प्रति तार्किक ढंग भी अकाट्य है वे तत्कालीन ब्राह्मणों की निन्दा करते हुए कहते हैं कि वे धार्मिक पुस्तके पढ़ते हैं। संध्या करते हैं, पत्थर की पूजा करते हैं और बगुला भक्त बन कर बगुल-समाधि में लीन रहते हैं। वे मुख से झूठ बोलते हैं, त्रिकाल में गायत्री का विचार करते हैं, गले में माला पहनते हैं, ललाट पर तिलक लगाते हैं, दो धोतियों के अतिरिक्त सिर पर भी एक वस्त्र धारण करते हैं, किन्तु ब्राह्मण के वास्तविक कर्मों से अनभिज्ञ हैं। अतः उनके सभी कार्य व्यर्थ हैं।<sup>66</sup> इसी तरह नानक बुद्धि व तर्क के आधार योगियों के कंथा धारण करने से होती है, न डण्डा लेने से होती है और न शरीर पर भस्म लगाने से

---

65. पड़ि पुसतक संधिआ बादं। सिल पूजासि बगुल समाधं॥

मुखि झूठ बिभूखण सारं। त्रेपाल तिहाल विचारं।

गलि माला तिलकु लिलांट। दुई धोती बसत्र कपांट।

जे जाणसि करमं। सभि फोकट निसचउ करं। --- नानक वाणी पृ० 344-45

66. जोगु न खिथा जोगु न डंडे जोगु न भसम चड़ाइऐ।

जोगु न मुंदी मूंडि मुडाइऐ जोगु न सिंगी वाईऐ।

अजंन माहि निरंजनि रहीऐ जोग जुगति इव पाईऐ। --- नानक वाणी पृ० 441

ही हो सकती है। योग न तो कानों में मुद्रा पहनने से हो सकता है, न मूंड, मुडवाने से होता है और न श्रृंगी बजाने से ही। यदि माया के बीच में रह कर माया से रहित रहा जाये तभी योग की प्राप्ति सम्भव है।<sup>67</sup> इसी प्रकार योग न तो कब्रों और श्मशानों में रहने से होता है और न बाह्या ध्यान लगाने से ही हो सकता है। देश-देशान्तरों में भ्रमण करने से भी योग नहीं हो सकता और न योग की प्राप्ति के लिए तीर्थादि का स्नान ही उपयुक्त है। यदि सतुगुरु मिले तभी हो सकता है और विषयों की ओर दौड़ते हुए मन को रोका जा सकता है तथा सहजावस्था में वृत्ति लग सकती है।<sup>68</sup> इसी प्रकार मुसलमानों के प्रति भी उनके तर्क अकाट्य होते हैं वह कहते हैं कि- “अन्दर बैठकर चोरी-चोरी तुर्क हाकिमों की पूजा करने से और लोगों को दिखाकर कुरान पढ़ने से कोई लाभ नहीं। इन पांखण्डों को छोड़ देना चाहिए।”<sup>69</sup> इसी प्रकार गुरुनानक

67. जोगु न बाहरि मड़ी भसाणी जोगु न ताड़ी लाईऐ।

तोगु न देखि दिसंतरि भविए जोगु न तीरथि नाईऐ।

सतिगुरु भेटै ता सहमा तूटै धावतु वरजि रहाईऐ।

निझरू झरै सहज धुनि लागे घर ही परचा पाईऐ॥

--- नानक वाणी पृ० 441

68. अंतरि पूजा पड़हि कतेबा संजमु तुरका भाई। छोड़िये पांखडा। नाभि लइए जाहि तरंदा॥

--- नानक वाणी पृ० 632

69. दया कपाह संतोख सूत जत गंडी सत वट॥

ऐह जनेऊ जीअ का इह त पांडे धत॥ न ऐह तुटे न मल लगै न ऐह जलै न जाय॥ धन्य

खु माणत नानका जो गलि चले पाय॥ चउकड़ि मुलि अणाया बहि चउके पाया॥ तिआ

कन्न चड़ाया गुरु ब्राह्मण धीआ॥ उह मुआ उह झड़ि पाया वेतगा गया॥

--- शब्दार्थ वाणी श्री गुरु नानक पृ० 220

बुद्धि व तर्क के धनी थे उन्होंने बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति इन आडम्बरों का विरोध करके समाज में स्वीकृत की है। पण्डितों के प्रति उनकी बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति यह कहकर करवाई है कि- “ऐसा जनेऊ जो कि दया की कपास, संतोष के सूत, यति रूपी गांठ तथा सत् रूपी उसमें बल पड़े हों। इन सब वस्तुओं से निर्मित हो तो हे पण्डित तू मेरे गले में डाल दे। न यह टूटे, न यह मैला हो, न यह जले, न नष्ट हो, वही मानव है जिसने इसे अपने गले में डाल लिया है। हे पण्डित तूने तो इसका चार कौड़ी मूल्य बताया और चौकी पर बैठकर यह लोगों को पहनाते हो। कान में शिक्षा देते हो कि अब से ब्राह्मण तुम्हारा गुरु हुआ। लेकिन जब वो जनेऊ धारण करने वाला ही मर गया और वह जनेऊ भी जल गया तो वह परमात्मा के दरबार में बिना जनेऊ के ही गया ऐसे जनेऊ से क्या फायदा।”<sup>70</sup> गुरु नानक के भी तर्क लोगों को सोचने पर बाध्य कर देते थे।

इसी प्रकार बाह्याचारों का विरोध करते हुए सन्त रैदास ने बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति दी है। वह बुद्धि द्वारा इन बाह्याचारों पर तर्क करते हुए उसे जड़ से उखाड़ फेंकने के पक्ष में थे। ताकि मानव इन सबसे स्वतन्त्र रह सके। मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में उनके तर्क भक्ति के माध्यम से हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

---

70. राम मैं पूजा कहा चढ़ाऊँ, फल अरू फूल अनूप न पाऊँ।

थनहर दूध जो बछरू जुठारी, पुहुप भंवर जल मीन विगारी।

मलयागिरी बेधियो भुजंगा, विष अम्रत दोऊ एकै संगी।

मन ही पूजा मन ही धूप, मन ही सहज सरूप।

पूजा अरचा न जानूँ तेरी, कहि रविदास कथन गति मेरी।

--- वियोगी हरि, संत सुधासार पृ० 161 पद 16



ईश्वर की प्राप्ति में ये किसी बाहरी आडम्बर की आवश्यकता नहीं समझते। वे कहते हैं कि भाई भक्ति तो ऐसी चीज़ है जिसमें अभिमान के लिए तो बिल्कुल ही स्थान नहीं। क्या होता है नाचने-गाने से, क्या होता है तप करने से ? क्या होता है चरण धोने से ? जब तक वास्तविक तथ्य को नहीं पहिचाना जाता तब तक यह सब बेकार है। इसी तरह भला सिर मुंडाने से क्या होगा, तीर्थ, व्रत आदि रखने में क्या धरा है। लोग परम तत्त्व को नहीं पहचान पाते। केवल बाह्याडम्बरों में ही पड़े हुए रहते हैं। भक्ति से ही मानव हर दुःख, चिन्ता से रहित होकर स्वतन्त्र रह सकता है। इसी तरह बाहरी साधनों की व्यर्थता पर उनका तर्क है कि हे राम तुझे मैं पूजा में भला क्या चढ़ाऊँ ? मन लायक फल-फूल तो मिलते ही नहीं। दूध चढ़ाता तो वह भी बछड़े ने जूठा कर दिया है। फल को भौरै ने सूँघ लिया है। जल को मछली ने पवित्र नहीं रहने दिया। मलयागिरी को साँपों ने खराब कर दिया है। विष और अमृत दोनों ही एक साथ है। मेरे तो मन ही में तेरी पूजा है। मन में ही धूप है। तेरे सहज-रूप की तो मैं मन-ही-मन आराधना करता हूँ। मैं तो पूजा अर्चना कुछ भी नहीं जानता। रैदास कहते हैं कि मालूम नहीं कि मेरी कौन सी गति होगी। इसी तरह संत रैदास बनवास जैसे पाखण्डों को कोमल शब्दों में तर्क करते हुए कहते हैं, हे भाई तू परमात्मा को पहाड़ों-जंगलों में क्यों खोजता फिर रहा है। अपने शरीर के भीतर ही उसे खोज। जैसे फूल में सुगंधि रहती है वैसे ही वह रघुराय सब देहों में निवास करता है। उसे बाहर खोजते-खोजते तुमने अपना मानव जन्म गंवा दिया है और मृगतृष्णा में अधिक उलझ गये हो। इसलिए राम-चरणों में मन को स्थिर रखो। हृदय में बल बन कर रघुपति निवास करेंगे। रविदास कहता है- “हे संत जनो! सुनो! राम भजन के बिना

मुक्ति किसे प्राप्त हुई है।'<sup>71</sup> अर्थात् मानव तब तक स्वतन्त्र नहीं हो सकता जब तक वह इन पाखण्डों से मुक्ति न प्राप्त कर ले। हे पण्डित हरि का भेद अत्यन्त गूढ़ है। मूँड मुंडाना, सेवा, पूजा ऐसे भ्रम के बन्धन भी बहुत दृढ़ हैं। माला तिलक तथा मनोहर वस्त्र पहन कर भी तुम मृत्यु से बच नहीं सकते। यदि तुम हरि से सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हो तो संसार से विरक्त रहो। ऐसे बन्धनों को काट फैंको।<sup>72</sup> ईश्वर से सम्बन्ध स्थापना हेतु मानव को ऐसे पाखण्डों से स्वतन्त्र रहना चाहिए। इन पाखण्डों से मानव को मुक्त कर सन्त रैदास ने अपने साहित्य में बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति दी है।

### निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप से हम यह कह सकते हैं कि मध्ययुगीन समाज में लोग अन्ध

71. गिरिवन काहे खोजन जाई, घट अभिअन्तर खोजहू भाई ॥ टेक ॥

पहुप मथे ज्युं वास बसत है, त्यूं सब घर रमहिरघुराई ॥

बाहरि खोजत जनम सिरानों, म्रिग त्रिस्त्रां रह्यो उरझाई ॥

रामचरन मंह थिर मन राखहु, रिदै कंवल वसै रघुमाई ।

कहि रविदास सुनहु रे संतो, राम भजन बिणु किन गति पाई ॥1 ॥

--- संत रविदास वाणी पृ० 136

72. पांडे। हरि विचि अंतर डाढ़ा,

मूँड मुंडावै सेवा पूजा, भ्रम का बंधन गाढ़ा ॥ टेक ॥

माला तिलक मनोहर बानौ, लागै जम की पासी ।

जौ हरि सेती जोड़या चाहौ, तौ जग सों रहे उदासी ॥1 ॥

--- संत रविदास वाणी पृ० 133

परम्पराओं की धारा में बहे जा रहे थे। विषय वासनाओं के जाल में उलझ कर कष्ट भोग रहे थे। धरातल का यह अन्तर सन्तों के हृदय को खीझ और क्षोभ से भर देता है। इसलिए वह मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति इन बाह्याण्डम्बरो को उखाड़ फेंकने से करवाते हैं। सन्त कबीर तो सत्य को ऐसी तार्किकता, तलखी और प्रभाव से कहते थे कि उनका यह तेवर अपना था। उनके तर्क अकाट्य और सोचने को बाध्य करने वाले होते हैं। मनुष्य को झकझोर देने वाले तर्कों की निष्पत्तियों की स्वीकृति उनके साहित्य में देखने को आज भी मिलती है।

इसी प्रकार गुरुनानक देव जी ने भी इन पाखण्डों, बाह्याण्डम्बरो को उखाड़ फेंकने के पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं। जिनकी आज भी सन्त साहित्य में स्वीकृति मानी गई है। क्योंकि गुरुनानक बुद्धि एवम् तर्क के धनी थे। उन्होंने बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति आडम्बरो का प्रबल रूप में विरोध करके दी है।

इसी तरह सन्त रैदास बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में भक्ति के माध्यम से ईश्वर सम्बन्ध स्थापना हेतु से करवाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि इन तीन संत कवियों ने बौद्धिक एवम् तार्किक निष्पत्तियों की स्वीकृति मानव-स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में भक्ति के माध्यम द्वारा बाह्याण्डम्बरो का विरोध कर उनसे मुक्त करके करवाई है।

### 3.5 संत साहित्य में निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा

संत कवियों ने निर्मोह व्यंग्य से सत्य को पुनर्परीक्षित किया। उस युग में पाखण्ड, कुरीतियाँ, आडम्बर मानव के लिए एक सत्य के रूप में उद्घटित हुए थे। संत कवियों ने मानव को स्वातन्त्र्य की ओर भेजने के लिए निर्मोह व्यंग्य से इस सत्य की पुनर्परीक्षा

करने का बीड़ा लिया। उनके द्वारा प्रयुक्त व्यंग्य में आत्म मोह या किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष के प्रति वैमनस्य नहीं था वे तो मात्र असत्य को सत्य हो जाने से रोकने के लिए निर्मोह व्यंग्य का प्रयोग कर रहे थे जैसा कि प्रत्येक विषयाधीन कवि में स्पष्ट है सन्तों ने उन सब अनुचित तथा पाखण्डपूर्ण क्रियाकलापों का विरोध किया जो कि मानवस्वातन्त्र्य में बाधक सिद्ध हो रहे थे। धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के पाखण्ड प्रचलित हो गए थे जो कि मानव को भ्रमजालों में फंसाकर उसका सब प्रकार से शोषण कर रहे थे। सन्तों ने धर्म के नाम पर प्रचलित इन पाखण्डों का निर्मोह व्यंग्य द्वारा मानव को सत्य की पुनर्परीक्षा कराई। क्योंकि हरि भजन से मानव निर्वाण या मोक्ष पाता है। कबीर ने हरि भजन को आत्मा का भजन माना है। आत्मा का भजन सत्यानुभूति से होता है। सत्य के द्वारा ही मानव उस निर्वाण पद को पा सकता है।<sup>73</sup> जिसके हृदय में सत्य है उसके हृदय में ईश्वर निवास करता है। मध्यकाल में सत्य का हनन हो रहा था और झूठ का प्रचार हो रहा था।<sup>74</sup> झूठ को लोग सत्य समझ रहे थे और उसी असत्य में सत्य तिरोहित हो गया था।<sup>75</sup> सर्वप्रथम कबीर जी

73. कहें कबीर विचारि के ओ है पद निरवान ॥

सत ले मन में राखिए जहाँ न दूजी आन ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 185

74. साचै मारै झूठ पढ़ि काजी करै अकाज ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 33

75. झूठनि झूठ साँच करि जाना ॥

झूठनि में सब साँच लुकाना ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 174

को सत्य की वास्तविक अनुभूति हुई थी। उसी सत्य की पुर्नपरीक्षा लोगों को कराते हुए वे अपने निर्मोह व्यंग्य से बड़े-बड़े पण्डितों को पछाड़ देते थे, काजी मुल्ला पर व्यंग्य करते थे और राजा-महाराज को धिक्कार देते थे। सत्य के बल पर उन्होंने समाज में धाक ज़मा ली थी। सत्य की पूजा होती है। उनका मत था कि, “जो सत्य अपने आप में प्रकट होता है, उसी सत्य की दूनिया पूजा भी करती है।”<sup>76</sup> उसी सत्य की अनुभूति कबीर ने उन पाखण्डों को उखाड़ फेंकने में की है। वह अपने निर्मोह व्यंग्य से वेद-पुराण का विवेकहीन पाठ, तीर्थ यात्रा, श्राद्ध, छुआछूत, पाखण्ड पूर्ण सन्यास, मूर्ति पूजा, धार्मिक अन्ध विश्वास, सूतक पातक इत्यादि असंख्य बाह्याचारों को उखाड़ फेंकना चाहते थे। कबीर द्वारा पाखण्डों पर किया गया निर्मोह व्यंग्य की प्रवृत्ति सर्वाधिक प्रबल तत्त्व के रूप में उभरती है। वे मानव विरोधी सभी पाखण्डों तथा परम्पराओं का विध्वंस कर देने के पक्ष में हैं तथा भक्ति के माध्यम से मानव स्वातन्त्र्य हेतु इन सभी अनाचार नीतियों को व्याज्य बताते हुए सत्य ज्ञान को प्राथमिकता देने के पक्ष धर हैं। उनका निर्मोह व्यंग्य संत-साहित्य में सत्य की पुर्नपरीक्षा करवाने का पक्षधर है। धार्मिक पाखण्डों के प्रति रोष व्यक्त करते हुए वे कहते हैं। वेद पुराण, स्मृति आदि सभी ग्रन्थ पढ़ सुन कर भी मानव ने परम तत्त्व के मर्म को समझा नहीं है। संध्या-चन्दन, गायत्री-पाठ और षट्कर्म करता है किन्तु परमात्मा अर्थात् सत्य इन सब से दूर है। बन खण्ड में जाकर तप करता है। कन्द मूल फल खाता है। जो ब्रह्मज्ञानी हैं और अधिक ध्यानपूर्वक ब्रह्माराधना करने का दावा करता है। उसने तो जैसे यम

---

76. आपै पूजै आप पुजेरा ॥

से इच्छित-मृत्यु लिखवा ली है ऐसा पाखण्ड करता है। मुल्ला रोजा रखता है, नमाज अदा करता है, बाँग देकर ऊँचे स्वर में खुदा को पुकारता है यह दिखाने के लिए कि मैं खुदा को याद कर रहा हूँ किन्तु जब हृदय में ही कपट हो तो फिर हज, तीर्थ यात्रा और कावा जाने से क्या लाभ।<sup>77</sup> अर्थात् यदि मन इन विकारों से परे अर्थात् निर्मल हो तो परमात्मा सहज ही उपलब्ध हो जाता है। उसकी प्राप्ति हेतु किसी पाखण्ड की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार तीर्थ स्नान का खण्डन करते हुए कबीर कहते हैं कि, “काया को मांजने से क्या होगा अर्थात् तीर्थ-स्नान करने से कोई लाभ नहीं क्योंकि जब तक इस शरीर के भीतर मैल छुपी हुई है। यदि तुम्हारा हृदय शुद्ध और मन ज्ञान से पूर्ण है तो पानी से खिलवाड़ करने की क्या आवश्यकता है। यह देह यदि अड़सठ तीर्थों पर स्नान भी कर ले तो भी इसमें छिपा हुआ छल-कपट नष्ट नहीं होगा। कबीर यही बात सोच-विचार कर कहता है कि भावसागर से तारने वाला केवल परमात्मा ही है।”<sup>78</sup> जल में स्नान करने से यदि मानव को परमगति प्राप्त हो पाती तो

---

77. वेद पुरानं सुमृत गुनि पढ़ि पढ़ि, पढ़ि गुन मरम न पावा।

संध्या गायत्री अरु षटकरमां, तिन ये दूर बतावा ॥

बनखंडि जाई बहुत तप कीन्हां, कंद मूल खानि खावा।

ब्रह्म गिआनी अधिक धियांनी, जम कै पटै लिखावा ॥

रोजा किया निमाज गुजारी, बंग दे लोग सुनावा।

हिरदै कपट मिले साई, क्या हज कावे जावा ॥ --- कबीर ग्रन्थावली पृ० 133

78. काया मंजसि कौन गुनां, घट भीतरि है मलनां ॥टेक ॥

जौ तूं हिरदै सुधमन गियानी, तौ कहा विरौले पानी।

तूबी अठसठि नहाई कड़वापन तरु न जाई ॥

कहै कबीर बिचारी भवसागर तारि मुरारी ॥277 ॥ --- कबीर ग्रन्थावली पृ० 136

मछली तो प्रतिपल जल में ही रहती है। जैसे मछली है वैसा ही नर है। दोनों ही वार-वार जन्मते-मरते हैं। मन में मैल है और तीर्थ स्नान करते हो क्या ऐसे वैकुण्ठ प्राप्त हो जायेगा ? ऐसे पाखण्ड कर-करके हे पाखण्डी! तूने जगत् को भ्रम में डाल रखा है और राम को अर्थात् सत्य को नहीं पहचाना। हृदय छल कपट से आपूरित हो तो फिर चाहे मृत्यु को प्राप्त हो वह भवसागर से पार हो जाता है।<sup>79</sup> ब्राह्मणों ने यह पाखण्ड पूर्ण अवधारणा प्रचलित कर रखी थी कि केवल बनारस नगरी में ही मृत्यु को प्राप्त होने वाला मनुष्य सीधे स्वर्ग में पहुँचता है और मगहर में मरने वाले मनुष्य नरक में प्रवेश करते हैं। इसी पाखण्ड को कबीर निर्मोह व्यंग्य द्वारा उसका खण्डन करते हुए मानव को ऐसी भ्रमपूर्ण उक्तियों से स्वतन्त्र रहने का संदेश देते हैं। मृतक की अस्थियों का गंगा में बहाना, पिंड भरवाना तथा श्राद्ध जैसे पाखण्डों का अनावरण करते हुए कबीर कहते हैं- “अरे! इन लोकाचारों को देखो वेद-किताबों ने ऐसा कहा है इसलिए लोग इनका अनुसरण करते हैं। मृतक का अग्नि संस्कार करके आते हैं तो उससे स्नेह जताते हैं जबकि उसी आदमी को जीवन काल में यह लोग उसे असंख्य दुःख देते थे। अब उसकी अस्थियों को गंगा में विसर्जित कर रहे हैं कैसा

---

79. जल के मंजन्य जो गति होई मीना नित ही न्हावैं ।

जैसा मीनां तेसा नरा फिरि फिरि जोनि आवैं ।

मन मैमंता तीर्थ न्हावैं, तिनि बैकुंठ न जानां ।

पाखण्ड करि करि जगत भुलाना, नाहिन राम अयानां ।

हिरदै कठोर करै बनारसि, नरक न बंध्या जाइ ।

हरि को दास मरे जो मगहर, से न्यां सकल तिराई ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 153

घोर पाखण्ड है। जीवत आदमी को तो अन्न नहीं देते और उसके मरने के बाद उसके नाम के पिंड भरवाते फिरते हो, जीवत मनुष्य से बोलना भी पाप समझते हैं उसके मरने के पश्चात् उसके लिए श्राद्ध करते हैं। कबीर कहते हैं कि मैं हैरान होता हूँ कि सारा अन्न तो कौए खा रहे हैं तो फिर मृत-पित्र को यह अन्न सामग्री कैसे पहुँच रही है।<sup>180</sup> इसीलिए मानव को चाहिए कि वह सत्य को पहचाने और इन पाखण्डों से परे रहे। इन धार्मिक पाखण्डों के साथ-साथ कबीर राजनीति के प्रति भी अपना विद्रोह उन दो धर्म गुरुओं के द्वारा व्यक्त करते हैं जिन्होंने धार्मिक कठमुल्लाओं ने राजाओं को धर्म के नाम पर जनता का शोषण करने को उकसाया इसलिए कबीर इन दोनों के विरुद्ध अपने निर्मोह व्यंग्य से तीव्र आघात करते हैं क्योंकि इन्होंने मानव को अनेक भ्रम जालों में फंसाकर उसकी स्वतन्त्रता के द्वार बन्द कर दिये थे तथा इस तरह मानव सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्वरो पर निरन्तर शोषित हो रहा था। कबीर कहते हैं, हे मनुष्य! तू अपने चरित्र पर दृष्टिपात कर। प्रयत्न तथा साधना के बिना भक्ति किसी को भी प्राप्त नहीं होती। यह जितने भी धर्मानुष्ठान करने वाले मुल्ला तथा काजी हैं प्रभु भक्ति के बिना सब निःसार हैं। नौ ग्रहों तथा राशि को बताने वाला

---

80. ताथे कहिये लोकाचार, वेद कतेव कवैं ब्याहोर ॥टेक ॥

जारि वारि आवैं देहा, मूवा पीछै प्रीति सनेहा ॥

जीवत पित्रहिं मारहिं डंगा, मूवा पित ले जालें गंगा ॥

जीवत पित्र कूं अन्न न खवावै मुवां पांछें प्यंङ्ग भरावै ॥

जीवत पित्र कूं वोले अपराध, मुवां पीछै देहि सराध ॥

कहि कबीर मोहि अचरज आवै, कऊवा खाइ पित्र क्यो पावै ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 156 पद 356



ब्राह्मण भी मृत्यु-बन्धन को काट नहीं सका। कबीर कहते हैं कि यह शरीर तो मिथ्या है सत्य तो केवन प्रभु का नाम है जिसमें प्रभु प्राप्ति होती है।<sup>81</sup> अर्थात् कबीर ने निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा इन काजी, मुल्ला तथा पण्डित की कुप्रथाओं का विरोध कर मानव को भक्ति के माध्यम से सभी भ्रमात्मक रुढ़ियों से स्वतन्त्र कराने की भरसक चेष्टा की है।

गुरु नानक देव जी निर्मोह व्यंग्य से सत्य की पुनर्परीक्षा दार्शनिक धरातल पर करवाते हैं। धर्म के नकारात्मक पक्ष को उजागर करते हुए मानव स्वातन्त्र्य के प्रति निर्मोह व्यंग्य को अपनाते हुए नानक पाखण्डी सन्यासी का विरोध करते हुए कहते हैं, “एक व्यक्ति वनखंड में निवसित होकर कंदमूल खाता है। कोई भगवे वस्त्र धारण करके योगी बन कर सन्यास ले लेता है किन्तु भीतर अच्छे वस्त्रों तथा भोजन की आशा रहती है और इच्छाएँ मरती नहीं। इस तरह न तो वह पूरी तरह गृहस्थी हो जाता और न ही सन्यासी।”<sup>82</sup> तो फिर ऐसे सन्यास से क्या लाभ। क्या ऐसा सन्यास

81. तन खोजों नर न करौं बड़ाई, जुगति बिना किनि पाई ॥  
 एक कहावत मुलां काजी, राम विनां सब फोकटबाजी ॥  
 नवग्रह बांभण बणता रासी, तिनहूँ न काटी जमकी पासी ॥  
 कहै कबीर यहु तन काया, सबद निरंजन राम नाम साचा ॥42 ॥  
 --- कबीर ग्रन्थावली सटीक पृ० 419

82. इक कंदमूल चुणि वण खंड खाहि बासा ।  
 इक भगवा वेस करि फिरहि जोगी संन्यासा ॥  
 अन्दरि त्रिस्ना बहुत छादन भोजन की आसा ॥  
 विरथा जनम गवाय न गिरही न उदाता ॥  
 शब्दार्थ वाणी श्री गुरु नानक पृ० 84

मानव को स्वतन्त्रता प्रदान करने में समर्थ होगा ? इसी प्रकार वह हिन्दू धर्म के बाह्याचारों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं हे पंडित! तुम पुस्तकें पढ़ते और संध्यावन्दन करते हो, बगुला समाधि लगाते हो और शिला को पूजते हो। मुँह से असत्य उचारते हो और विभूषण ग्रहण करते हो। गायत्री मन्त्र पर विचार करते हो, गले में माला पहनते हो और माथे पर तिलक लगाते हो, अच्छे-अच्छे वस्त्र धारण करते हो अगर तुम सच्चे अर्थों में ब्रह्म को जानते हो तो निश्चय ही तुम यह सब कार्य नहीं करते।<sup>83</sup> मानव इन भ्रमों व पाखण्डों में पढ़कर स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता और सत्य की अनुभूति तो ईश्वराधना से ही संभव हो सकती है।

गुरु नानक व्रतादि पाखण्डों को नकारते हुए कहते हैं कि हठ निग्रह कर-कर के तन निरन्तर क्षीण हो रहा है। व्रत-तप करते हो किन्तु मन हरि भक्ति के रस में निम्न नहीं होता।<sup>84</sup> सत्य की अनुभूति तो हरि भक्ति में लीन हो जाने में है। बाकी सब तो झूठ है। उनका निर्मोह व्यंग्य योगियों के पाखण्डों में भी उभर कर हमारे सामने आया है। वे कहते हैं, “एक वनखण्ड में बैठकर देवताओं का आह्वान करता है और घोर शीतकाल में भी शीतल जल में समाधि लगाता है, कोई अंगों पर भस्मलेपन

---

83. पड़ि पुस्तक संध्या बादं ॥ सिल पूजसि बगुल समाधं ॥

मुखि झूठ विभूषण सारं ॥ त्रैपाल तिहाल विचार ॥

गलि माला तिलक लिलाटं ॥ दुई धोती वस्त्र कपाटं ॥

जो जाणसि ब्रह्म करमं ॥ सभि फोकट निसचउ करयं ॥

शब्दार्थ वाणी श्री गुरु नानक पृ० 216

84. शब्दार्थ वाणी श्री गुरु नानक पृ० 346

लगाकर मैल नहीं छुड़ाता, कोई लम्बी-लम्बी जटाएँ विकराल रूप धारण कर अपना घर तथा कुल छोड़ लेता है, कोई नग्न फिरता है कोई दिन-रात जागरण करता है, कोई स्वयं अग्नि में जल रहा है, नाम-स्मरण के बिना ऐसे लोग अपने तन को राख कर रहे हैं और फिर असफलता पर रोते हैं। परमात्मा के द्वार पर तो वही लोग शोभा प्राप्त करते हैं और सतगुरु की सेवा करते हैं।<sup>85</sup> अर्थात् उनका निर्मोह व्यंग्य सत्य की पुनर्परीक्षा के प्रति था। यह सब प्रपंच तो मानव को स्वतन्त्र करने की अपेक्षा सांसारिक मिथ्याडम्बरों में अधिक जकड़ कर रखते हैं। इसलिए मानव को स्वतन्त्र रहने के लिए नानक का निर्मोह व्यंग्य सत्य की पुनर्परीक्षा करवाकर ऐसे पाखण्डों से विरक्त रखता है।

रैदास द्वारा किया गया निर्मोह व्यंग्य सत्य की पुनर्परीक्षा सामाजिक आधार लिए हुए हैं। रविदास धर्मगत प्रत्येक उस बाह्याचार को उखाड़ फेंकना चाहते थे जो निम्नवर्ग की समग्र स्वतन्त्रता में बाधक सिद्ध होता है तथा जिससे वर्ग-विभेद बढ़ता हो। जातीयता के नाम पर समाज के निम्नवर्ग को अधिकाधिक शोषित किया जाता हो। तथा रैदास में निर्मोह व्यंग्य का अभाव दिखाई देता है क्योंकि उन्होंने मानव स्वातन्त्र्य को भक्ति के माध्यम से केवल समर्पण भाव को ही परमोपयोगी स्वीकार किया। वह

---

85. इक वणखंडि वैसहि जाय सदन देवही ॥ इक पाला ककर भनि सीतल जल होवही ॥

इक भस्म चड़ावहि अंगि मैल न धोवही ॥ इक जटा विकट विकराल कुल घर खोवही ॥

इक नगन फिरहि दिन राति नींद न सोवही ॥ इक अंगनि जलावहि अंग आपु बिगोवही ॥

विन नावै तन छार किया काहे रोवही ॥ सोहनी खसम दुआरी तिस सतगुर सेवही ॥

शब्दार्थ वाणी श्री गुरु नानक पृ० 556

सत्य की पुनर्परीक्षा तो करवाते हैं लेकिन कबीर और गुरु नानक की तरह पाखण्डों पर किया गया निर्मोह व्यंग्य के उदाहरण उनके साहित्य में कम मिलते हैं। तीर्थ गमन, मूर्ति पूजा तथा निन्दा जैसे कर्मों के पाखण्ड रूप को नकारते हुए वे कहते हैं- यदि कोई अड़सठ तीर्थों की यात्रा करे, यदि वह बारह पत्थरों की पूजा करे, कूप तथा तटों की भी देव-समान पूजा करे, इतना करके भी यदि वह निन्दा करता है तो उसके सब कर्म व्यर्थ हो जाते हैं। साधु का निन्दक कैसे पार उतर सकता है, उसके सिर पर तो मानो नरक ही धरा है।<sup>86</sup> इसलिए मानव को ऐसे बाह्याचारों का वहिष्कार करना चाहिए तभी वह स्वतन्त्र होकर सत्य की अनुभूति कर सकता है। मानव सांसारिक मोह-माया में इस प्रकार लिप्त रहता है कि वह किसी और बात का ध्यान ही नहीं करता। इसलिए ओ अभागे! अमूल्य जन्म व्यर्थ ही बीता जा रहा है। प्रभु का स्मरण तू कभी नहीं करता। यह शरीर दिन प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है। पत्नी, पिता, पुत्र और माता यह सब चार दिनों के संगी हैं। एक बार बिछुड़ जायेंगे तो दुबारा मिलन नहीं होगा। जैसे वृक्ष से पत्ता झड़ जाता है तो दुबारा उस पर नहीं लगता ऐसे ही सांसारिक सम्बन्ध हैं।<sup>87</sup> इन सब झूठे सम्बन्धों से मानव को स्वतन्त्र हो जाना चाहिए।

---

86. जै उहू अठ सठि तीरथ न्हावै, जे उहू दुआदस सिला पुजावै ॥ रहाउ ॥

जै उहू कूपु तटा देवावै करै निंद सम बिरथा जावै ।

साध का निन्दक कैसे तरे, तट पर जानहू नरक ही परै ॥ -- संत रविदास वाणी पृ० 122

87. जनम अमोल अकारण जात रे ।

सुमरण करौं कभउं नहिं हरि कौ, ज्यौं लौ नहि छरंत गात रे ।।टेक ॥

ऐ सब संगी दिवस चारि के, धन यारा सुत पित मात रे ।

बिछुरे मिलन बहुरि नह है हो, ज्यौं तखर छिन पात रे ॥-- संत रविदास वाणी पृ० 96

प्रभु नाम के बिना शेष सब खोखला है। “सत्य एक ईश्वर है-” यह शरीर भी धोखा है यह संसार माया है और हरि के बिना व्यर्थ ही अपना जन्म गंवा रहे हो। पण्डित भी है और उसकी वाणी का भी कोई उपादेयता नहीं है। ईश्वर के नाम के बिना बाकी सब कहानियाँ झूठ हैं। यह सब भोग-विलास मिथ्या है और किसी देव की आशा भी झूठी है। केवल मन कर्म और वचन से किया गया प्रभु-नाम-स्मरण सत्य है।<sup>88</sup> इसलिए इन सब प्रकार के मोह-बन्धनों से मन को स्वतन्त्र रखना चाहिए। इस तरह रैदास जी ने भी मानव को सत्य की पुनर्परीक्षा ईश्वर को मानते हुए कराई है।

### निष्कर्ष

कबीर ने निरन्तर इस दात पर बल दिया है। कि विभिन्न धर्म-मतों में प्रचलित कर्मकाण्ड तथा पूजा-पाठ आदि मानव को सदैव सत्य से दूर रखते हैं। उनका निर्मोह व्यंग्य हमेशा सत्य को पुनर्परीक्षित करने वाला रहा है। क्योंकि सत्य के बिना मानव मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। कबीर ने हरि भजन को आत्मा का भजन माना है। सत्य के द्वारा ही मानव उस निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार अन्ततः कबीर सांसारिक जीवन के अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति को ही सच्चा मानते हैं जो अपने सहज जीवन में सत्य को अपनाता है। सन्तोष के साथ भाव स्तर पर जीवन व्यतीत करता है। उसकी कथनी-करनी में अन्तर नहीं होता और वह निरन्तर सत्य के मार्ग पर आगे बढ़ता है।

---

88. थोथी काया थोथी माया, थोथा हरि बिन जनम गंवाया ॥

थोथा पंडित थोथी बानी, थोथी हरि बिन सबै कहानी ॥

थोथा मंदिर भोग विलासा, थोथी आन देव की आसा।

सांचा सुमिरन नाम विसासा, मन बच कर्म कहै रैदासा ॥

संत रविदास वाणी पृ० 99

संक्षेप में सत्य इनके जीवन का सार था। इसलिए तत्कालीन जनता को उन्होंने अपने निर्मोह व्यंग्य से इस सत्य की पहचान कराई और आज भी लोग स्वीकार कर रहे हैं। यदि कबीर का निर्मोह व्यंग्य धज्जियाँ उड़ाने वाला है तो गुरु नानक देव जी ने परोक्ष रूप से नम्र स्वर में बाह्याचारों के प्रति अपना निर्मोह व्यंग्य से सत्य को उद्घाटित किया है। कबीर में जहाँ यह व्यंग्य अपने मुखर रूप में प्राप्त होता है तथा उनके साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति धार्मिक स्तर पर व्यास काजी, मुल्ला और पण्डित द्वारा व्यास अनाचारों के प्रति अधिक हुई है। वहीं नानक ने समाज धर्म के नाम पर व्यास बाह्याण्डबरों पर व्यंग्य में अकाट्य उक्तियाँ प्रस्तुत करते हुए सत्य को पुनर्परिक्षित किया है। रविदास भी धर्म के नाम पर फैले अन्धविश्वासों तथा पाखण्डों के प्रति अपना निर्मोह व्यंग्य द्वारा सत्य को दर्शाते हैं। उनका निर्मोह व्यंग्य मन को कचोट देने वाली तीक्ष्णता का अभाव दिखाई देता है। इसका कारण कदाचित् उनका ईश्वर के प्रति अगाध-समर्पण भाव है।

इसी तरह इन तीन सन्त कवियों ने किसी न किसी रूप में निर्मोह व्यंग्य द्वारा मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में सत्य को पुनर्परिक्षित किया। ताकि लोग सत्य को जानकर इन सभी अनाचार नीतियों से स्वतन्त्र हो सके। सन्तों ने यह कार्य बाखूवी निभाया।

### 3.6 सन्त साहित्य में सामाजिक समानता एवम् व्यंग्य हेतु निर्भीक मनोगठन

सन्त कवियों की दृष्टि और चेतना जो उनकी कृतियों अथवा उनके जीवन वृत्तान्त से मिलती है, उसमें हम यह कहकर कोई अतिशयोक्ति नहीं कर रहे कि उनकी दृष्टि उस पैनी छूरी के समान है जो विषमताओं, असंगतियों, विसंगतियों, एवम् असमानताओं को काट-छांट कर एक ऐसे बिन्दू पर लाने का प्रयास है जहाँ जो भाव उत्पन्न होता

हैं उसे हम सम'भाव कहते हैं या सामाजिक समानता। सन्त कवियों ने सामाजिक समानता हेतु जनमानस तक अपना सन्देश सम्प्रेषित करने के लिए जनभाषा का प्रयोग तो किया ही साथ-साथ व्यंग्य का भी सहारा लेकर निर्भीक मनोगठन प्रस्तुत किया है। उनकी सूक्तियों में यह बात स्पष्ट है। कि कबीर जागते और रोते थे<sup>89</sup> वे इस बात का स्वयं अनुभव कर रहे थे कि जो अज्ञानी है वह सुख की नींद सो लेता है और जो ज्ञानी है, अबूझ को बूझने की कोशिश करता है उसी के सिर पर सारी बला, सारी कटुनुभूतियाँ आ जाती है।<sup>90</sup> पर कबीर क्या करते ? समाज में ऐसे लोग अधिक थे जिन्हें उचित-अनुचित का विवेक नहीं था। कबीर ऐसे लोगों से हैरान थे और वे अपने निर्भीक मनोगठन द्वारा ऐसे लोगों पर व्यंग्य कसते हुए कहते हैं, “हे पण्डित तुम पठन-पाठन करके और भी चतुराई करते हो। पहले मुझे अपनी स्वतन्त्रता की बात तो समझाओ। वह परमतत्त्व कहाँ रहता है ? उसका गाँव कौन सा है ? हे पण्डित! मुझे उसका नाम बताओ। वह ब्रह्मा जिसने चार वेदों को उत्पन्न किया है उसने भी स्वतन्त्रता का अर्थ नहीं जाना। दान-पुण्य की बातें तुम करते हो, किन्तु अपनी मौत की खबर तुम्हें नहीं है। केवल एक नाम है जो अगम है, गंभीर है और वहीं दास

---

89. सुखिया सब संसार है खाये अरू सोवै।

दुखिया दास कबीर है जागे अरू रोवै ॥

-- कबीर ग्रन्थावली पृ० 9

90. जिन कुछ जान्या नहीं तिन्ह सुख नीदड़ी बिहाइ।

मेर अबूझी बूझिया पूरी पड़ी ब्लाई ॥

-- कबीर ग्रन्थावली पृ० 40

कबीर का मन स्थिर हो गया।<sup>91</sup> इस प्रकार परमात्मा के श्री चरणों में मन को समर्पित करने पर भी मानव स्वातन्त्र्य की अभिलाषा से भी स्वतन्त्र रह सकता है।

संतो के काल में धर्म के नाम पर हिन्दू-मुसलमानों में घोर संघर्ष होते थे। समाज धार्मिक रुढ़ियों का आगार बन गया था। स्नान आदि बाह्याचारों तथा आत्मा के स्वरूप की जानकारी को छोड़कर लोग प्रतिमापूजन को ही अध्यात्म का परम लक्ष्य मानने लगे थे। संतो को आध्यात्मिक और सामाजिक क्षेत्र की यह दुर्दशा सह्या नहीं हुई। अतः उन्होंने सामाजिक समानता लाने के लिए अपनी रचनाओं के माध्यम से निर्भीक मनोगठन द्वारा तात्कालिक समाज को प्रबुद्ध बनाने के लिए समाज के मिथ्याभ्रमों पर कठोर व्यंग्य किए। कबीर मध्यकालीन सभी सन्तों में सर्वाधिक विद्रोही सन्त हैं उनके विद्रोह की अभिव्यक्ति के केन्द्र में समाज अधिक रहा है। सामाजिक धरातल पर उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का सांसारिक सम्बन्ध, लोकाचार, काजी, मुल्ला, पण्डित हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव तथा सांसारिकता के प्रति सशक्त ढंग से व्यंग्य का शंखनाद किया। वर्ण-व्यवस्था की असारता घोषित करते हुए वे कहते हैं, “यदि परमात्मा वर्ण का विचार करता तो मनुष्य जन्म लेते ही उसे तीन खण्डों में विभक्त कर देता। सब जीवों का मूल उत्स एक ही है और फिर सब माया बँधन में पड़ जाते

---

91. पढ़ि पढ़ि पंडित कर चतुराई, निज मुकती मोहि कहु समझाई ।  
 कहां बसै बसै पुरुष कहां तौ गाऊं पंडित मोहि सुनावहु जाऊं ॥  
 चारि वेद ब्रह्मै निज माना, मुक्तिक मर्म उन्हूँ नहिं जाना ॥  
 एक नाम है अगम गंभीरा, तह्यां अस्थिर दास कबीरा ॥34 ॥



हैं समस्त जीव समान है, न ही कोई ऊँचा है और न ही कोई नीचा। सबका शरीर उस परमात्मा ने ही सिंचित किया है।<sup>92</sup> इसी तरह पण्डितों ने जन साधारण को अनगिनत भ्रम जालों में उलझा रखा था। पण्डित की इन अनुचित नीतियों के प्रति व्यंग्य करते हुए कहते हैं- हे पांडे जी! तुझे कौन सी कुबुद्धि लग गई है जो राम नाम का स्मरण नहीं करते। हे अभागे! तू राम-नाम की महिमा जान प्रभु-प्रेम के बिना तुम्हारा किया हुआ वेद-पाठ ऐसे हैं जैसे गधे पर चंदन का बोझा लदा हो। अर्थात् गधे को चन्दन की उपादेयता का कोई पता नहीं होता। इसलिए उसके लिए चंदन भी बोझ के समान है उसी प्रकार तुम राम नाम के तत्त्व को समझते नहीं। इसीलिए अन्तिम समय तुम्हें परमात्मा के दरवार में अपमानित होना पड़ता है।<sup>93</sup> इन्हीं पांखण्डों ने मानव स्वातन्त्र्य के द्वार बन्द कर रखे थे। कबीर ने इनसे इन्हें मुक्त करवाने की चेष्टा की। हिन्दू समाज में पांखण्ड का जाल विछाकर पत्थर के सालिगराम की

---

92. जो पै करता वरण विचारै।

तौ जनमत तीनि खांडि किन सारे।।टेक॥

उतपति व्यंद कहां पै आया, जा घटी अरू लागी माया।

नहीं को ऊंचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा॥

-- कबीर ग्रन्थावली पृ० 362

93. पांडे कौन कुमति, तोहि लागी,

तू राम न जपहि अभागी।।टेक॥

वेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसे भारा॥

राम नाम तत् समझत नाहिं अंतिकाल मुखि छारा॥

-- कबीर ग्रन्थावली पृ० 314

उपासना का प्रचार कर दिया था जिससे समाज में और पिछड़ापन आ गया था। इस पत्थर पूजा का कबीर ने खुलकर विरोध किया और व्यंग्य हेतु अपने निर्भोक मनोगठन द्वारा कहा कि, “पत्थर को क्यों पूजते हो ? वह तो जड़ है। जीवन भर उपासना करने पर भी वह जबाव देने वाला नहीं। यह मनुष्य ही अन्धा है जो विविध आशाएँ लेकर जड़ पत्थर के सामने नत मस्तक होता है। वह व्यर्थ ही अपनी प्रतिष्ठा खो देता है।”<sup>94</sup> वास्तव में पत्थर की उपासना से मन की भ्रान्ति नहीं जाती बल्कि वह दिन प्रतिदिन और बढ़ती जाती है।<sup>95</sup> कबीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि पत्थर का ही देवता है और पत्थर का ही मन्दिर है तो किस देव की पूजा करते हो ? पूजा करने वाला ही अन्धा है जो खोटी सेवा में लगा है।<sup>96</sup> यदि सेवा ही करनी है तो मनुष्य की सेवा करो जिससे सामाजिक समानता बनी रहे।

इस प्रकार के अनेक रीति-रिवाज हिन्दू समाज में प्रचलित थे जिससे स्वतन्त्र होना सबके लिए कठिन था। समाज में इस प्रकार के सुख दुःख के अनेक अवसर

94. पाहन को का पूजिये जनम न देई जाब।

अंधा नर आशामुखी यों ही खोवै आव ॥

-- कबीर ग्रन्थावली पृ० 34

95. सेवै सालिग राम कूं मन की भ्रान्ति न जाई।

सीतलता सुपने नहीं दिन दिन अधकी लाइ ॥

-- कबीर ग्रन्थावली पृ० 34

96. पाथर ही का देहुरा पाथर ही का देव।

पूजणहारा अंधला लागा खोटी सेव ॥

-- कबीर ग्रन्थावली पृ० 34

थे जिन पर कर्मकाण्डों का प्रभाव था। उस समय वेद और कुरान के नाम पर समाज में अनेक पाखण्ड फैले थे। मरने के बाद भी कुछ कर्मकाण्ड ऐसे प्रचलित थे जिनको देखकर कबीर अपने निर्भीक मनोगठन हेतु व्यंग्य करते हैं कि ये विचित्र लोग हैं, “जो वेद कुरान से लोकाचार एवम् व्यवहार ग्रहण करते हैं। ये मृत शरीर को जलाकर आते हैं तो मरने के बाद प्रेम प्रदर्शित करते हैं। जीवित रहने पर पिता को डंडे से मारते हैं और मरने पर गंगाजल अर्पित करते हैं। जीवित रहने पर पिता को अन्न नहीं देते और मरने पर पिण्ड भरते हैं। जीते जी पिता को अपराधी कहते हैं और मरने पर श्राद्ध देते हैं। कबीर कहते हैं कि मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि कौवा के खाने पर पिता कैसे उसे पाता है।”<sup>97</sup> इस प्रकार के अनेक कर्मकाण्ड समाज में प्रचलित थे जिनसे जनता का गहन लगाव बना हुआ था। ये सारे लोक वेद जन्य कर्मकाण्ड जनता की प्रगति में बाधक थे।<sup>98</sup> इसीलिए कबीर ने सामाजिक समानता लाने के लिए इन कर्मकाण्डों का विरोध किया। इन कर्मकाण्डोंके कारण समाज में विविध

---

97. ताथे कहिये लोकाचार, वेद कथेवक थें व्यवहार ।

जारिबारि करि आबै देहा, मूवा पीछे प्रीति सनेहा ॥

जीवत पित्रहि मारहि डंडा, मूवा पित्र लै घालें गंगा ॥

जीवत पित्र कूं अन न ख्वावै, मूवा पाछै प्यंड भरवै ॥

जीवत पित्र कूं बोलै अपराध, मूवा पीछै देहिं सराध ॥

कहि कबीर मोहिं अचरज आवै, कउवा खाइ पित्र क्यूं पावै ॥

-- कबीर ग्रन्थावली पृ० 156 पद 356

98. लोक वेद कुल की मर्यादा इहै गले में फाँसी ॥

-- कबीर ग्रन्थावली पृ० 98 पद 129

क्रियाकलाप प्रचलित थे समाज की विविधता पर कबीर बेचैन और उदास थे। उन्होंने अपने निर्भीक मनोगठन द्वारा व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक समानता लानेके लिए अपनी भाषा का प्रयोग किया और इस पाखण्डों से मानव को स्वतन्त्र करने का प्रयास किया।

मध्यकाल में जहाँ मुस्लिम सत्ता के प्रमुख तत्त्व काजी का प्रभुत्व स्थापित था उसकी सत्ता को चुनौती देना एक साहसिक कार्य था। इस निर्भीकता का परिचय देते हुए काजी की अनुचित नीतियों का विरोध करते हुए कबीर कहते हैं- “हे काजी यह तुम्हारा काम कैसा है ? घर-घर में तुम जीव-हत्या करवाते हो। बकरी-मुर्गी किसने बनाई है, और किसके आदेश से तुमने उन पर छुरी चलाई है। तुम तो यह जानते नहीं कि दर्द क्या होता है और स्वयं पीर कहलाते हो। बिना वजह जगत् को भ्रम में डाल रहे हो। कबीर कहता है सैय्यद केवल एक वही है जिसने अपनी प्रतिच्छाया से जगत् की सृष्टि की है। दिन में रोजा रखते हो रात को गो-वध करते हो। एक ओर खून करते हो और दूसरी ओर प्रभु-भक्ति। परमात्मा को प्रसन्न करने का यह कौन सा मार्ग है।”<sup>99</sup> इस प्रकार कबीर सामाजिक अव्यवस्थाओं के प्रति रोष प्रकट

---

99. काजी काज करहु तुम कैसा, घर घर जबह कर बिहु वैसा,  
बकरी मुरगी किन फुरमाया, किसके कहे तुम छुरी चलाया।  
दरद न जानहु पीर कहावहु, वेसा पढ़ि-पढ़ि जग भरमावहु ॥  
कहहिं कबीर एक सैयद वोहाई, आप सरीखे जग कचुलाई ॥  
दिने धरत हो रोजा, राति कुहतु हो गाय ॥  
इह खून वह बंदगी, क्यों करि खुसी खोदाय।

करने के साथ-साथ काज़ी तथा पंडित की अनुचित नीतियों का विरोध करते हैं। वे ऐसी सब परम्पराओं को विध्वंस कर देने के पक्ष में थे जो सामाजिक समानता को सीमाओं में आबद्ध करती है। इन सबसे स्वतन्त्र रहना मानव का परम साध्य है।

इसी प्रकार गुरुनानक देव जी ने तत्कालीन समाज की रुढ़ियों और बाह्याडम्बरो में जकड़ी हुई जनता को स्वतन्त्र करने के लिए निर्भीक मनोगठन द्वारा व्यंग्य कसे। उन्होंने वास्तविक धर्म का मार्ग दिखलाते हुए बाह्याडम्बरो को त्याग देने की सलाह दी है।<sup>100</sup>

संतो की क्रान्तिदर्शी दृष्टि ने सामाजिक प्रगति को अवरुद्ध करने वाली उन समस्त गतानुगतिक श्रृंखलाओं को पहचान लिया था, जिसके चलते तत्कालीन समाज की समानता अवरुद्ध होकर जाति-पाति के अनेक भेदों में बंधकर जड़ीभूत सी हो गयी थी। इन बाह्याडम्बरो में मुख्यतः जाति और छुआ-छूत की कट्टरता तथा शैव, वैष्णव, जैन-बौद्ध एवं हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक एवं साम्प्रदायिक विद्वेष सर्वाधिक यात्रा में रहा। इस वर्ग को जीवित रखने में जैन-मुनि, बौद्ध-भिक्षुक, पंडित, पुरोहित, ब्राह्मण तथा मुल्ला आदि का विशेष हाथ था। संतों ने जनसमूह को इन कुचक्रों से निकाल कर उन्मुक्त वातावरण में लाकर पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया। तीर्थ-व्रत,<sup>101</sup>

100. बाहरि भसम लेपन करे अंतरि गुबारी।

खिंच्या झोली बहु भेख करे दुरमति अहंकारी ॥

-- नानक वाणी पृ० 737 पद 121

101. बगा बगे कपड़े तीरथ मंझि वसंन्हि।

घुटि-घुटि जीआ खखणे बगे न कही अन्हि ॥

-- नानक वाणी पृ० 436 पद 3-3

पूजा-पाठ,<sup>102</sup> जप-पत,<sup>103</sup> चंदन-तिलक,<sup>104</sup> वेश-भूषा,<sup>105</sup> आदि आडम्बरों पर इन संतों ने कठोर व्यंग्य के माध्यम से प्रहार किया। अतः मध्यकाल में संतों द्वारा सामाजिक और धार्मिक समानता की यह मनोवृत्ति उनकी वह देन है जिसका भरपूर उपयोग नानक-वाणी में देखने को मिलता है।

इसी तरह धर्म के नाम पर समाज में अनेक अन्धविश्वास प्रचलित थे। लोग इन अन्धविश्वासों का पालन करने में इतने निमग्न हो गए थे कि वह अपने इष्ट को भी भूल बैठे थे। तीर्थ-यात्रा के पाखण्ड के प्रति गुरु नानक व्यंग्य कसते हुए कहते हैं- “भ्रमण करने से भ्रम दूर नहीं होते चाहे व्यक्ति दिशा-दिशान्तर का भ्रमण कर ले। यदि अन्दर का छल कपट ही न गया तो ऐसे जीवन और देश को धिक्कार है।

102. माटि पानि कुश लिए पढ़न्त। घर ही बइठी अग्नि होमन्त।

कार्य बिना ही हुतवह हामें। आंखि उहावै कडुये धूवें ॥

सरहपा-हिन्दी काव्य धारा पृ० 5-7

103. धोती टिका ते जपमाली धानु मलेछो खाई।

अंतरि पूजा पडहि कतेबा संजमु तुरका भाई ॥

-- नानक वाणी पृ० 348 पद 331

104. पति विणु पूजा सत विणु संजम जत विणु काहे जनेऊ।

नावहु धोवहु तिलक चड़ावहु सुच विणु सांच न होई।

-- नानक वाणी पृ० 501 पद 61

105. चिटे जिनके कपड़े मैले चित कठोर जीउ।

तिन मुखि नामु न उपजै दूजै विआवे चोर जीउ

मूलु न बूझहि आपण से पसूआ से ठोर जीऊ ॥

-- नानक वाणी पृ० 444 पद 2-3

सतगुरु के उपदेश के बिना और कहीं किसी भी प्रकार की भक्ति नहीं हो सकती।<sup>106</sup> इस प्रकार गुरु नानक ने मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में सामाजिक समानता हेतु निर्भीक मनोगठन द्वारा इन अनाचार एवं गलित नीतियों पर व्यंग्य किये ताकि मानव स्वतन्त्रता पूर्वक जीवनयापन कर सके।

यदि समाज में फैली कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए कबीर जैसे दवंग, फक्कड़ ने राष्ट्रीय स्तर पर निर्भीकता से तत्कालीन क्रूर शासन के विरुद्ध तथा समाज में समानता एवम् मानव स्वातन्त्र्य भावना लाने के समाज में फैले मिथ्याडम्बरों के विरुद्ध प्रज्वलित विचारों को जन्म दिया, तो संत रैदास जी ने उसी आदर्श को अपनी शीतल वाणी से परिमार्जित किया। उन्होंने समाज में व्याप्त विष को समाप्त करने के लिए अग्नि कणों की व्यंग्य वर्षा नहीं की। अपितु निर्भीक मनोगठन द्वारा शीतल जल के समान मधुर वाणी से उस जहर को दूर करने का सफलतम प्रयास किया। उनकी वाणी समाज में मानव की स्वतन्त्रता और एकता का पाठ पढ़ाने में सार्थक रही है।

समाज में व्याप्त जातिवाद का विरोध करते हुए वह कहते हैं कि, “सभी एक ही परमात्मा के पुत्र हैं। ब्राह्मण, मुसलमान और शेख सभी का कर्ता एक ही है, इसीलिए सभी को रूयान समझना चाहिए।”<sup>107</sup> मनुष्य जन्म के कारण नीच नहीं होता प्रत्युत

106. भरमै भाहिं न निकवै जे भवे दिसंतर देस ॥ अंतरि मैल न उतरै घ्रिण जीवन घ्रिण देस ॥

हौबइ किसे भगति न होवड बिन सतगुरु के उपदेस ॥

-- शब्दार्थ वाणी श्री गुरु नानक पृ० 32

107. रविदास उपजई सभ इक नूर ते ब्राह्मण, मुल्ला सेखा ।

सभ को करता एक है सभ कु एक ही पेख ॥

काशी नाथ उपाध्याय गुरु रविदास पृ० 36

उसके निकृष्ट कर्म उसे नीच बना देते हैं।<sup>108</sup> क्योंकि उसको तो एक ही ईश्वर ने गढ़ा है।

अतः रैदास में राजनीतिक चेतना अधिक मुखर रूप में प्राप्त होती है। वे संसारी राजा की शरण में न जाकर राजा राम की शरण में जाना चाहते हैं।<sup>109</sup> क्योंकि संसारी राजा तक तो केवल उच्चवर्ग की ही पहुँच है और राजा राम के दरबार में उच्च तथा निम्न में कोई भेद नहीं रहता वहाँ सब बराबर है। 'वेगमपुरा' जैसे नगर की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में भी राजनैतिक प्रतिरोध के स्वर ही प्रखर रूप में दिखाई देता है रैदास एक आदर्श नगर की कल्पना करते हैं। जिसका नाम वेगमपुरा है जहाँ दुःख अनुपस्थित है, जहाँ न रिश्वत चलती है, न खिराज, न माल, न खता, न दया है, न जमाल है, जहाँ सदा सुरक्षा तथा सानन्द है, जहाँ परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है, जहाँ कोई भेद-भाव नहीं, केवल एक ही ईश्वर को माना जाता है, यहाँ पानी तथा अन्न के भण्डार हैं। उस शहर में जहाँ इच्छा हो भ्रमण करो। अर्थात् मानव स्वतन्त्र है। महलों के मालिक! उच्चवर्ग तथा जाति वाले लोग कभी रास्ता नहीं रोकते। अर्थात् कोई भेद-

---

108. रविदास जन्म के कारणे होत न कोऊ नीच।

नर को नीच कर डारि हैं ओच्छे करम की कीच ॥

--- पंजाब सौरभ-गुरु रविदास विशेषांक पृ० 13

109. तेरी चरनी सरनी परऊ रामु राजा, बड़ों ऊपरी क्रिपाल।

क्रिपानिधी सगल संसार के करहि राजा।

-- संत रविदास वाणी पृ० 125



भावना नहीं है। रैदास कहता है कि हे प्रभु हम शहरी हैं और तू हमारा मित्र है।<sup>110</sup> इससे यह स्पष्ट होता है कि रैदास जी ने सामाजिक जीवन में समानता और स्वतन्त्रता को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया। इन्होंने अपने समाज को दुःख-चिन्ता से रहित बनाया। इनके द्वारा निर्मित समाज में हमेशा शान्ति और समृद्धि सर्वत्र परिलक्षित होती है।

### निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप से हम यह कह सकते हैं कि समाज में हिन्दू और मुसलमान धर्म तथा उनके रीति-रिवाजों में काफी असमानता थी। जिसके कारण दोनों जातियों में पारस्परिक मत-भेद था। राम-रहीम के नाम पर दोनों में झगड़ा था। जिससे सामाजिक शान्ति भंग हो चुकी थी। समाज में अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार फैले थे। कबीर ने तटस्थ होकर समाज के बाह्य और अन्तरंग पक्ष को देखा था। जहाँ भी उन्हें बुराई दिखाई दी उन्होंने वहाँ सामाजिक समानता लाने के लिए निर्भीक मनोगठन द्वारा व्यंग्य किए। कबीर मानव समुदाय को विशुद्ध सामाजिकता की दृष्टि से देखते थे इसलिए उस

---

110. बेगमपुरा सहर को नाउ ॥ दूखु अंदोहु नहीं तिहि ठाउ ॥

नां तसवीर खिराजु न मालु ॥ खउफु न खता न तरसु जवालु ॥2 ॥

अब मोहि खूब वतन गइ पाई ॥ ऊहां खैरि सदा मेरे भाई ॥2 ॥

काइमु दाहमु सदा पातिसाही। दोम न सेम एक सो आही ॥

अबादानु सद्रा मसहूर ॥ ऊहां गनी बसहि मामूर ॥2 ॥

तिउ तिउ सैल करहि जिउ भावै ॥ महरम महल न को अरकावै ॥

कहि रविदास चमारा। जो हम सहरि सु मीतु हमारा ॥३ ॥

- राग गउड़ी, शब्द-2

संत रविदास वाणी पृ० 85

समाज में जितने ऊपर से आरोपित आवरण थे उसे वे उतार फेंकना चाहते थे और ऐसा कबीर ने कर भी दिखाया। उन्होंने सामाजिक समानता लाने के लिए मानव की स्वतन्त्रता को सर्वोपरि माना है। इस प्रकार गुरु नानक देव में वही क्रान्तिकारी चेतना दृष्टिगत होती है। उन्होंने समाज की प्रगति को और अधिक गति प्रदान करने के लिए मानव स्वातन्त्र्य चेतना जागृत करने की चेष्टा की थी। सामाजिक रुढ़ियों और पाखण्डों पर किये गये उनके व्यंग्य कबीर की तरह बहुत उग्र, अक्खड़ और ध्वंसात्मक न होकर एक ऐसी शालीन शैली में लिखे गये हैं। जिसमें उनमें मार्मिक व्यंग्य की तीव्रता तो आई है, किन्तु कबीर जैसा अक्खड़पन नहीं है। गुरु नानक ने समाज की जड़ीभूत प्रवृत्तियों के विरुद्ध व्यंग्य किया, जो तत्कालीन समाज की एकता के स्थान पर साम्प्रदायिक वैमनस्य उत्पन्न करती थी। समाज को उन रुढ़ियों, परम्पराओं और पाखण्डों पर गुरु नानक जैसे प्रगतिशील महामानव ने अपने निर्भीक मनोगठन द्वारा तीव्र आलोचना और तीखे व्यंग्यों का प्रयोग किया। इसी से उनकी निर्भीकता का पता लगाया जा सकता है। इसी में मानव स्वातन्त्र्य निहित है।

कबीर और गुरु नानक की भांति संत रैदास ने भी समाज में फैली कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए कबीर और गुरुनानक जैसे अग्नि कणों की वर्षा नहीं की। बल्कि सामाजिक समानता लाने के लिए अपने निर्भीक मनोगठन द्वारा शीतल जल के समान मधुर वाणी से उस जहर को दूर करने का सफलतम प्रयास किया। उनकी वाणी सामाजिक समानता के साथ-साथ स्वतन्त्रता और एकता का पाठ पढ़ाने में सार्थक रही है। अतः इन तीन संत कवियों ने अपने निर्भीक मनोगठन द्वारा सामाजिक समानता लाने के लिए समाज में परिव्याप्त विविध प्रपंचों से मानव को स्वतन्त्र कर उनमें समानता लाने का भरसक प्रयास किया।

### 3.7 संत साहित्य में वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या

अब तक वैश्विक सत्य को पुरातन व्यवस्थाओं के विशेष सन्दर्भ में देखा गया है। परन्तु इसकी मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या के सन्दर्भ में वैश्विक सत्य मानवकेन्द्रित हो गया है। इसके अन्तर्गत मानव के प्रति अटूट आस्था व्यक्त की गई। जैसे परस्पर बन्धुत्व, परोपकार एवम् कल्याण की कामना की गई। मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या के अन्तर्गत उन सब पुरातन रुढ़ियों, कुरीतियों, आडम्बरो का विरोध किया गया। जो मानव के सर्वाङ्गीन विकास में बाधक थी। पहले मानवीय स्वतन्त्रता पुरातन कर्मकाण्डों के कारण प्रकाश में नहीं आ सकी। क्योंकि तब दैवी शक्तियाँ मानव के भाग्य की नियामक समझी जाती रही और मानव की प्रायः अवहेलना होती रही। सन्त कवियों ने मानव स्वातन्त्र्य को सम्मुख रखके वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या का सुत्रपात किया, जो तत्पश्चात् अस्तित्ववाद व आधुनिकतावाद में परिपक्व होता चला गया। कबीर की विचारधारा के केन्द्र में मानव-मात्र की एकता वर्तमान है। एक ही परमात्मा का अंश सभी में व्याप्त है। कबीर ने वैश्विक सत्य की मानव केन्द्रित पुनर्व्याख्या उन रुढ़ परम्पराओं को तोड़ कर की जो कि मानव स्वातन्त्र्य में बाधक सिद्ध हो रही थी। कर्मकाण्डों के कारण समाज की विविधता पर कबीर बेचैन और उदास थे। वे इन लोगों के विविध कर्म और विविध वेश को देखकर भीतर ही भीतर दुखी थे। उन्होंने तत्कालीन समाज की गति विधियों पर क्षोभ प्रकट करते हुए कहा कि यह विचित्र समाज है। जहाँ कोई एकता नहीं है। एक पुस्तकों का पाठ करता है, तो एक इधर-उधर भ्रमण करता है। एक निरन्तर नग्न रहता है, तो एक योग युक्ति करके तन को क्षीण किया करता है। एक दरिद्र और दुःखी है। तो दूसरा उसको दान देता है।

एक क्रियाकलाप में विकल है, तो एक सुरापान में। एक तन्त्र, मन्त्र औषध में विश्वास रखता है, तो दूसरा समस्त नीति वाक्यों को कण्ठस्थ रखता है तो एक वह है जो राम नाम की प्रीति में विश्वास ही नहीं रखता। एक होम यज्ञ करके धुवां से अपना शरीर काला करता है, पर ऐसे तप से बिना राम नाम मुक्ति नहीं मिलती।<sup>111</sup> अर्थात् इन प्रपंचों से मानव को स्वतन्त्र कराने का प्रयास कबीर ने अधिक किया। कबीर ने मानव और मानव के बीच व्याप्त इस कटुता का प्रबल खण्डन किया और मानव मात्र की एकता अद्वैतवाद की दृढ़ आधारशिला पर स्थापित कर मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या की। मानव और मानव के भेद को मिटाने के लिए कबीर ने कहा- “यदि परमात्मा वर्ण का विचार करता तो मानव के जन्म लेते ही उसे तीन खण्डों में विभक्त कर देता। सब जीवों का उत्स एक ही है। फिर भी सब माया बन्धन में पड़ जाते हैं सभी मानव समान है। न ही तो कोई किसी से ऊँचा है और न ही नीचा। सभी का शरीर तो उस

---

111. ऐसौ देखि चरित मन मोह्यौ मोर, तार्थें निस बासुरि गुन रमौ तोर ॥

इक पढ़हि पाठ इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरन्तर रहैं निवास ॥

इक जोग जुगुति तन हूँहि खीन, ऐसैं, राम नाम संगि रहैं न लीन ॥

इक हूँहि दीन इक देहि दान, इक करैं कलापी सुरापान ॥

इक ततं मंत औषध बांन, इक सकल सिध राखैं अपान ॥

इक तीर्थ ब्रत करि काया जीति ऐसैं राम नाम सूं करैं न प्रीति ॥

इक धोम घोटि तन हूँहि स्याम यूं मुक्ति नहीं बिन राम नाम ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 163 पद 386

प्रभु ने सिंचित किया है।'<sup>112</sup> फिर कोई कैसे ऊँच या नीच हो सकता है। इस वर्ण जाति के दम्भ से मानव को स्वतन्त्र रहते हुए मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। कबीर ने मानव की स्वतन्त्रता के लिए घर के प्रति भी उग्र रवैया अपनाया है। सामन्तीय समाज व्यवस्था में कदाचित् घरों की व्यवस्था में भी विश्रृंखलता आ गई होगी। इसलिए संत कबीर ने घर के प्रति विध्वंसक रवैया अपनाया है कबीर कहते हैं- हे भाई! आग लाओ चलो अपने घरों को जला दें। इस घर के कारण ही मन सांसारिकता में अधिक निमग्न हो गया है। इसी के कारण मेरे मन में माया रूपी एक डाइन रहने लगी है, जो नित्यप्रति मेरे मन को डसती है। इस माया रूपी डाइन के पाँच इन्द्रियों रूपी पाँच लड़के हैं और यह सब मुझे प्रतिदिन नाच नचाते हैं अर्थात् तंग करते हैं। कबीर कहते हैं कि मैं उसका दास हूँ जो डाइन के संग भी विषय विकारों से निर्लिप्त रहे।<sup>113</sup> यही निर्लिप्तवस्था मानव को स्वतन्त्र कर सकती है। कबीर ने वैश्विक सत्य

112. जौ पै करता वरण विचारै।

तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै ॥ टेक ॥

उतपति व्यंद कहां पै आया, जा घरी अरु लागी माया ॥

नहीं कौ ऊँचा नहीं कौ नीचा जाका प्यंड ताही का सीँचा ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 362

113. लावौ बाबा आगि जलावौ घरा रे,

ताकारनि मन धंधे परा रे ॥टेक ॥

इक डाइनि मेरे मन बसै रे, नित उठि मेरे जीय को डसे रे ॥

या डाइनि केलरिका पाँच रे, निति दिन मोहि नचावैं नाच,

कहै कबीर ताको दास, डाइनि के संगि रहै उदास ॥236 ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 477

की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या में मानव को सांसारिकता, विषय-वासना, लोभ-मोह, अंहकार इत्यादि मानव विरोधी तत्त्वों को निराकृत कर शूरवीरता, संतोष, अहिंसा, प्रेम, निष्काम-भाव संत्संगति इत्यादि सद्गुणों का आविर्भाव करना चाहा तभी मानव मानवपरक संकीर्णताओं से स्वतन्त्र हो सकता था। कबीर मानव को मानव बुराई में न देखकर दूसरे में देखता है। अपनी कमजोरियों के कारण मानव वैचारिक भेद करता है। इसी अज्ञान के कारण समाज में विविध जाति, धर्म तथा वर्ग बनते हैं। वस्तुतः मानव की एक ही जाति है, एक ही धर्म है और उसका एक ही वर्ग है। जीव की उत्पत्ति अभेद है। मानव सभी जीवों में श्रेष्ठ है।<sup>114</sup> इसी तरह कबीर को अपने अनुभव और चिन्तन से मानव को मानव रूप में देखने की समान दृष्टि मिल गई थी। मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या कमाकर खाना और सत्संग द्वारा समाज को एकता में जोड़ना इन सन्तों का उद्देश्य था। कबीर ने मानव को तात्त्विक दृष्टि से अभेद बताकर जाति वर्ग तथा सम्प्रदाय के भेद को दूर किया। मानव की एकता उनका आत्म दर्शन था। इस आत्म दर्शन से वैश्विक सत्य की मानव केन्द्रित पुनर्व्याख्या उन्होंने अपने साहित्य में की।

इसी प्रकार गुरु नानक देव जी ने वैश्विक सत्य की मानव केन्द्रित पुनर्व्याख्या में भारतीय समाज के दो प्रमुख समुदायों में एकता और मानव को केन्द्रित करने के लिए सफल प्रयत्न किया। इन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों में मानव को अधिक महत्त्व

---

114. मनिषा जन्म उतिम जो पावा,

जानूं राम तो सयान कहावा ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 173

दिया। मानव को अधिक महत्त्व देने के लिए इन्होंने कहा 'न को हिन्दु न को मुसलमान' इन्होंने इस भेद-भाव को नहीं माना। हिन्दु और मुसलमान दोनों को वह समान रूप से स्नेह करते थे। कैसा भेद-भाव ? गुरु ने कभी किसी को अपने से अलग नहीं माना। उन्होंने कहा था कि "एक ही ज्योति से सारा संसार उत्पन्न किया गया है, फिर इसमें कौन अच्छा और कौन बुरा हो सकता है।"<sup>115</sup> इस अभेद को मिटाकर ही मानव सर्वथा स्वतन्त्र रह सकता है। इसी प्रकार गुरु नानक देव समाज में व्याप्त जातीय भेद-भाव में भी विश्वास नहीं रखते थे। उन्होंने वैश्विक सत्य की मानकेन्द्रित पुनर्व्याख्या के लिए समाज को समता और एकता के सूत्र में बांधा। उनकी समस्या मानव के प्रति थी। उन्होंने मानव को केन्द्र में रखकर उसकी सन्त साहित्य में पुनर्व्याख्या उन रुढ़ परम्पराओं को तोड़ कर की। जो मानव स्वातन्त्र्य के पथ में अवरोधक थी।

इसी प्रकार सन्त रैदास जी ने भी वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में बाह्याडम्बरों और मिथ्याचारों का खण्डन करके की है। संत रविदास जी ने हृदय से यह अनुभव किया कि हिन्दुओं और मुसलमानों में धार्मिक खाई बहुत गहरी बन गई है। अगर इस खाई को पाटा जाये तो इन दोनों में एकता स्थापित होनी सम्भव है। इसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए इन्होंने धर्म को आधार बनाया। इन्होंने धर्म के उस उदार रूप का निरूपण किया जिससे हिन्दु और मुसलमान दोनों एक दूसरे के निकट आने लगे। नीच और पतित जातियों पर इनके विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा। इनके विचारों ने यह सिद्ध कर दिया। मानव ही सभी का नियामक

---

115. "एक जोति ते जग ऊपजा कौन भले कौन मन्दे।"

है, और मानव ही केन्द्र में है।

रैदास जी ने जाति-पाति ऊँच-नीच आदि भावनाओं को कोई महत्त्व नहीं दिया। उनकी दृष्टि में सभी मानव एक है। वह एक ही परमपिता की सन्तान है। इन्होंने स्पष्ट घोषित किया कि- “जाति से कोई छोटा-बड़ा नहीं होता बल्कि मानव के महान् और तुच्छ की पहचान की कसौटी तो प्रभु भक्ति है।”<sup>116</sup> इसी प्रकार संत रैदास एक अन्य स्थल पर कहते हैं कि जाति-पाति का भेद-भाव निरर्थक है। “एक ही परमात्मा सबका निर्माता है। अतः कोई ऊँची जाति अथवा नीची जाति का नहीं है, अपितु सब समान है।”<sup>117</sup> इसी प्रकार रविदास जी ने राम-रहीम के भेद को मिटा भक्ति के माध्यम से वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या मानव स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ में की।

### निष्कर्ष

अतः हम कह सकते हैं कि संतों की विचारधारा के केन्द्र में मानव मात्र की एकता वर्तमान है। एक ही परमात्मा का अंश सभी में व्याप्त है। अतः जाति, वर्ण और सम्प्रदाय के आधार पर मानव और मानव में भेद नहीं किया जा सकता। इस अभेद दृष्टि में घृणा और द्वेष के लिए स्थान कहाँ। किन्तु संतों ने देखा कि मानव ने

116. जाति ते कोई पद-नहि पहुंचा,

राम भगति विसेख रे।

-- रैदास जी की वाणी पृ० 23 पद 48

117. जन्म जात मत पूछिए, का जात अरू पात।

रविदास पूत सभ प्रभ के, कोउ नहि जात कुजात ॥2 ॥

-- रविदास दर्शन (पृथ्वी सिंह आजाद) पृ० 124 पद 120



आपस में भेद की दीवार खड़ी कर दी है। अलग-अलग सम्प्रदायों में बँटकर पारस्परिक वैमनस्य से ग्रस्त है। हिन्दू समाज विभिन्न जातियों में बँटकर वैमनस्य में उलझा था। हिन्दू और मुसलमान में कटुता थी। संतों ने मानव और मानव के बीच व्याप्त इस कटुता का प्रबल खण्डन किया और मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या की दृढ़ आधारशिला स्थापित की। अत्यन्त सहज उदाहरणों द्वारा उन्होंने बताया कि सभी एक ही ज्योति से उत्पन्न हुए हैं। ऐसी अवस्था में भेद स्वीकार करके किसी को ब्राह्मण और किसी को शुद्र कहना कहाँ तक उचित है। घड़े के बाहर जल है और भीतर भी, उसके फूट जाने पर जल में समा जाता है। फिर आत्मा और परमात्मा में भेद कहाँ। ईश्वर में जगत तथा जगत में ईश्वर सभी प्राणियों में वही निवास कर रहा है। इस तथ्य को समझ लेने पर भेद के लिए अवकाश नहीं रह जाता। कबीर का समस्त चिन्तन इसी अभेद दृष्टि पर आधारित है। उनका सन्देश है कि सभी प्रकार के बाह्या आडम्बरों से ऊपर उठकर अभेद के इस सूत्र को पहचानना चाहिए।

कबीर में युगीन संवेदना अत्यन्त प्रबल है। उनके चिन्तन का प्रेरणा-स्रोत युग की विसंगतियाँ हैं। अन्य भक्तों और कबीर में अन्तर यह है कि इनके प्रति उनकी प्रतिक्रिया अत्यधिक उग्र है लोगों को दिग्भ्रमित देखकर क्षोभ, आक्रोश और क्रोध से भर जाते हैं। उनके आक्रोश का कारण मानव-मात्र के प्रति अपार करुणा है। उन्हें मिथ्याचारों में लिप्त देखकर उनका हृदय क्षुब्ध हो उठता है। उन्हें वे डाँटकर फटकार कर राह में लाना चाहते हैं। वे मानव को भीतर और बाहर से बदलना चाहते हैं। यही सामाजिक चेतना वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या है मानव सभी प्रकार के बाह्या आडम्बरों से मुक्त होकर ही वह अपने ब्रह्ममय स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है। भक्ति और योग इसी स्थल पर उसके सहायक होते हैं। इन्हें आडम्बरों से

मुक्त कर उन्होंने इनके समन्वय द्वारा अपने नूतन मार्ग का प्रवर्तन किया। मिथ्याचार सत्य की अनुभूति में बाधक होते हैं। यही कारण है कि वे आडम्बरों को देखकर इतने उग्र हो उठते हैं। मूर्तिपूजा, तीर्थ-यात्रा, व्रत-उपवास इत्यादि आत्मानुभूति में बाधक है। ये सत्य के आवरण हैं। और मानव इन्हीं में उलझ कर परमात्मा के व्यापक स्वरूप को भूल जाता है। यही कारण है कि कबीर इन पर उग्र प्रहार करते हैं। मिथ्या के प्रति उग्रता का यह तेवर कबीर के बाद मध्ययुग में फिर दिखाई नहीं पड़ा। उन्होंने आडम्बरों पर केवल प्रहार ही नहीं किये, समन्वय का रास्ता अपना कर सभी वर्गों और सम्प्रदायों के लिए सामान्य मार्ग का निर्माण किया। यही उनका वैश्विक सत्य मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या अपने साहित्य में उपलब्ध करता है। इसी तरह गुरु नानक देव और रैदास ने मानव को केन्द्र में रखकर उसकी पुनर्व्याख्या की है। क्योंकि इन तीन संत कवियों का वैश्विक सत्य मानव ही रहा है। इन्होंने जो कुछ कहा, मानव के हित के लिए ही कहा। मानव को स्वतन्त्रता प्रदान करना इन तीन संत कवियों का उद्देश्य था। इसी प्रकार संत साहित्य में वैश्विक सत्य की मानवकेन्द्रित पुनर्व्याख्या हुई है।

### 3.8 संत साहित्य में जातीय, साम्प्रदायिक, वर्गगत बन्धन मुक्ति

मध्यकालीन युग में समाज विविध जातियों, सम्प्रदायों और वर्गों में विभक्त था। समाज में जाति का भेद सभी वर्गों एवम् सभी सम्प्रदायों में बना हुआ है। हर एक व्यक्ति किसी न किसी जाति या सम्प्रदाय से जुड़कर एक दूसरे का विरोधी बन गया था। उसके चारों तरफ स्वार्थ और संघर्ष की ज्वाला थी।<sup>118</sup> सभी लोग अपनी-

---

118. झल बाबैं झल दाहिनें झलहि माहि व्यौहार।

अपनी आग में जल रहे थे। मानव ने अपने इस विविध भेद से सारा समाज बिगाड़ डाला था।<sup>119</sup> तभी तो कबीर ने कहा कि यह संसार पागल है जो एकता की ओर न जाकर अनेकता की ओर भागता है।<sup>120</sup> मनुष्य आत्म चिन्तन न कर बाहर की दुनियां में भटकता है। मनुष्य बुराई अपने में न देखकर दूसरों में देखता है। अपनी ही कामियों के कारण मानव वैचारिक भेद करता है। इसी अज्ञान के कारण विविध जातियाँ, सम्प्रदाय तथा वर्ग बनते हैं। नहीं तो मानव की एक ही जाति है, एक ही सम्प्रदाय का है और उसका एक ही वर्ग है। जीव की उत्पत्ति अभेद है।

कबीर कालीन समाज में जातिवाद की समस्या जटिल थी। इसी जातीय समस्या ने समाज को विभिन्न वर्गों में बाँट दिया था और इसी कारण समाज में संघर्ष की विभिन्न परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं। ब्राह्मण अपने को पवित्र और सर्वश्रेष्ठ समझते थे तो मुसलमान अपने को कट्टरधर्मी और शक्तिशाली समझते थे। हिन्दुओं में अनेक जातियाँ थीं, मुसलमानों में अनेक धर्म और सम्प्रदाय थे जिसके कारण वे एक दूसरे से अलग हो गए थे। अतः हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों पर जातीयता और साम्प्रदायिकता का पक्का रंग चढ़ गया था जिस रंग को न तो कोई उपदेश मिटा सकता था और न कोई धर्म एक कर सकता था। दोनों के दो ईश्वर थे और दोनों अपने-अपने कर्ता की कृपा पर जीवित थे। इसलिए कबीर इनका विरोध करते हुए

119. सारा खलक खराब किया है मानस कहा विचारा

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 93 पद 106

120. कहैं कबीर एक ही ध्यावौ आबलिया संसार

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 153 पद 345

कहते हैं कि यदि कर्ता वर्ण पर या जाति पर विचार करता तो जन्मते ही उसे तीन श्रेणियों में क्यों विभाजित कर देता ? उत्पत्ति बिन्दु कहां से आता है ? जो मायामय हो जाता है।<sup>121</sup> अरे भाई! न तो कोई ऊँचा है और न तो कोई नीचा है, जिसका पिण्ड है उसी से उसका पोषण हुआ है।<sup>122</sup> यदि तुम ब्राह्मण-ब्राह्मणी होकर पैदा हुए हो तो दूसरे रास्ते से क्यों पैदा नहीं हुए ? यदि तुम तुर्क-तुर्कनी बनते हो तो क्यों नहीं भीतर से खतना करा के आये ?<sup>123</sup> कबीर कहते हैं कि अरे भोंदूँ! अब ही से समझ लो, बोलने वाला न तो तुर्क है और न हिन्दू ही।<sup>124</sup> सबका शरीर एक ही तत्त्व से बना है। इस शरीर में उस परमपिता की ही ज्योति विद्यमान है अर्थात् आत्मा के धरातल पर सब मानव एक हैं इसी ऐक्य भाव में मानव स्वातन्त्र्य निहित है। हिन्दू और मुसलमान अर्थात् हमारे-तुम्हारे बीच में एक खून है और एक ही प्राण जीवन का मोह है। एक ही तरह सब दस माह गर्भवास करते हैं। सब एक ही जननी से उत्पन्न हुए हैं तो ऐसा कौन सा ज्ञान है जिससे तुम अपने आपको जातीयता वर्ग और

121. जो पैकरता बरण विचारै। तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 76 पद 49

122. नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा,

जाका पण्ड ताही का सीचा ॥

--- मोतीलाल बनारसीदास, हिन्दी के जनपद संत पृ० 9

123. जे तूँ बामन बमनी जाया तो आन बाट ह्वै कहै न आया।

ते तूँ तुरक तुरकनी जाया तौ भीतरि खतना क्यूँ न कराया।

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 79 पद 49

124. कहैं कबीर चेत रे भोंदू। बोलनहारा तुरूक न हिन्दू ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 72 पद 56

सम्प्रदाय से भिन्न समझते हो।<sup>125</sup> अरे मूर्ख! तुम अज्ञान के वश में पड़कर अज्ञानी ही रह गए। न ही तो तुम्हें सत्गुरु मिला और न ही इस जीवन से मुक्ति प्राप्त हो सकी।<sup>126</sup> कबीर जाति-पाति पर विश्वास करने वाले लोगों को अज्ञानी और अशिक्षित मानते हैं। कबीर कहते हैं कि गुरु वहीं जो व्यापक विचारों वाला हो। वह जाति-पाति का भेद-भाव मिटा कर इस प्रकार लोगों में मिल जाता है जिस प्रकार आटे में नमक मिल जाता है। अन्य लोग उसे यह नहीं कह सकते कि वह किस जाति का है।<sup>127</sup> उस समय जाति के नाम पर लोग एक दूसरे को पराया समझते थे। उनकी सामाजिक स्वतन्त्रता बिखर गयी थी। निम्न वर्ग वाले लोग उच्चवर्ग वालों को आदर देते थे फिर भी वे तिरस्कृत थे। जाति के नाम पर बढ़ाई प्राप्त करने का लालच अभिजात वर्ग वालों में अधिक था जो कि समाज को विभिन्न स्तरों में विभक्त कर दिये थे। इसलिए कबीर ने कहा कि अपने जीवन में दो बातों का विशेष ध्यान देना चाहिए। वह यह कि लोभ और बढ़प्पन के कारण मानवता के महत्त्वपूर्ण मूल्य को नहीं खोना

---

125. हम तुम माहै एकै लोहू। एकै प्रान जीवन है मोहू ॥

एक ही बास रहै दस मासा सूतन पातग एकै आसा ॥

एक ही जननी जान्या संसारा, कौन ग्यान थे भये नियारा ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 175 (रमैणी)

126. ज्ञान न पाया बावरे धरी अविद्या मेंड ।

सत्गुरु मिला न मुक्ति फल ताथें खाई बेंड ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 175 (रमैणी)

127. कबीर गुरु गरवा मिला रलि गया आँटें लूण ।

जाति-पाँति कुल सब मिटे नाव धरौगे कौण ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 2

चाहिए।<sup>128</sup> कबीर पण्डित और मुल्लाओं के कर्मकाण्डों का विरोध करते हुए कहते हैं कि जातीय स्तर पर मानव को महत्त्व नहीं देते थे। उनका कहना था कि पाण्डे-व्यर्थ का वाद-विवाद करते हैं। इस देह के बिना न शब्द है और न स्वाद ही। यह शरीर और ब्रह्माण्ड मिट्टी है। यदि ज्ञान के धरातल पर विचार कर देखा जाए तो जीवित शरीर भी मिट्टी है और मृत शरीर भी मिट्टी है।<sup>129</sup> इसलिए ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण है इसलिए कबीर ब्राह्मणों को चुनौती देते हुए कहते हैं कि तुम काशी के ब्राह्मण हो और मैं काशी का जुलाहा हूँ। मेरे ज्ञान को तो देखो। ब्राह्मण शुद्रों की छाया तक से घृणा करते थे। कबीर ने उस वर्ग को जो पूर्णरूपेण इन पण्डितों, ब्राह्मणों के प्रपंच से पिस रहा था, सबको स्वतन्त्र किया। इसीलिए कबीर मानव की सेवा में ईश्वर की सेवा मानते हैं। मानव के ये ऊपरी व्यवहार लोगों में जातीय, साम्प्रदायिक और वर्गगत बन्धन को पैदा करते हैं। वस्तुतः सभी मानव जाति एक है और सबसे एक प्रकार की समानता भी है।<sup>130</sup> कबीर इसी समानता के धरातल पर सबमें स्वतन्त्रता लाना चाहते थे पर कबीर कालीन हिन्दू और मुसलमान एवम् अन्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध

---

128. लोभ बड़ाई कारणै अछतामूल न खोइ ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 19 दोहा 41

129. पांडे न करसि वाद विवादं।

या देही विन सवदन स्वादं ॥

अडं ब्रह्मांड खण्ड भी माटी माटी नव विधि काया ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 128 पद 249

130. तूँ ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा चीन्हि न मोर गियाना ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 128-29 पद 250

लोग वर्ग और जाति के नाम पर झगड़ रहे थे। उन्हीं संकुचित विचारों की प्रतिक्रिया में कबीर बोल उठे थे कि हिन्दू-मुलमान सभी एक हैं। दोनों का धर्म, दोनों की जाति तथा दोनों का कर्ता एक ही है।<sup>131</sup> इसी एक्य भाव में मानव स्वतन्त्रता निहित है। सन्त कवियों ने मध्यकालीन समाज में फैले हुए शोषणपूर्ण सम्बन्धों का सुचारू रूप में चित्रण किया है तथा इन सम्बन्धों को निराकृत कर स्वस्थ सम्बन्धों की स्थापना के प्रगति मानव को आशान्वित किया है। धर्म सम्प्रदाय की आड़ लेकर पंडित तथा मुल्ला जनसामान्य को अधिक से अधिक शोषित कर रहे थे। इसलिए प्रायः सभी सन्त कवियों ने ब्राह्मण तथा मुल्ला की अनुचित नीतियों का प्रबल विरोध किया है। समाज में निम्नवर्ग किस प्रकार शोषित हो रहा था जो कबीर के शब्दों में इस प्रकार है, “सारा संसार सुखी है खाता है और आराम से सोता है। दास कबीर ही दुःखी है जो जागता है और रोता है।”<sup>132</sup> “हे मानव ! मन ! तू मन के मनोरथ त्याग दे क्योंकि तेरे करने से कुछ भी होने वाला नहीं है यदि पानी से घी निकल सकता है तो कोई भी रूखी रोटी न खाता।”<sup>133</sup> उन दिनों एक ओर निम्नवर्ग को अपने भरण-पोषण

131. कहैं कबीरा दास फकीरा अपनी राह चलि भाई

हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 83 पद 58

132. सुखिया सब, संसार है खाये अरू सोवै।

दूखिया दास कबीर है जागें अरू रोवै ॥45 ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 103

133. मनह मनोर्थ छोड़ि दे, तेरा दिया न होइ।

पांणी मैं घीव नीकसे, तौ रूखा खाई न कोई ॥28 ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 157

के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ता था तथा दूसरी ओर वे सम्पन्न लोगों का विरोध करते हुए तथा धन की असारता बताते हुए कहते हैं- “यह मानव व्यर्थ ही जन्म जी रहा है। यदि इसे तू सम्भाल सकता है तो संभाल ले, लाख करोड़ों की सम्पत्ति एकत्र करने से क्या लाभ होगा क्योंकि वे भी इस संसार से खाली हाथ ही जाने वाले हैं।”<sup>134</sup> इस प्रकार कबीर दोनों स्थितियों को सामने रखकर वर्गगत बन्धन से लोगों को मुक्त करवाना चाहते थे। इसी तरह सामन्तीय समाज-व्यवस्था में पूँजी में स्वामी किस प्रकार लोगों को शोषित करते थे। कबीर बताते हैं- “कि शाह की पूँजी को व्यर्थ में मत गंवाओ, नहीं तो हिसाब-किताब बताते समय बहुत झमेला होगा।”<sup>135</sup> समाज में वर्ग-भेद की सक्रियता इन पंक्तियों में स्पष्ट होती है- “हे मन! तू व्यर्थ विवाद मत कर अपने सुकृत्यों को संचित कर। कुम्हार ने एक ही मिट्टी से अलग-अलग प्रकार के बर्तन बनाये हैं किसी में मुक्ताहल मोती रखे और किसी में कसाई रक्त मांस इत्यादि रखता है। उसी प्रकार परमात्मा ने एक ही मिट्टी से सबको बनाया तथापि किसी को अच्छे रेशमी वस्त्र दिये ओर सुन्दर बिछौने दिये। किसी को जीर्ण-शीर्ण वस्त्र दिये तो

---

134. कबीर यह तन जात है, सके तो लेहु बहोड़ि।

नागे हाथूं से गये, जिनेके लाख करोड़ि ॥29 ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 143

135. कबीर पूँजी साह की, तू जिनि खोवै वार।

खरी बिसुचनि होइमी लेखा देती बार ॥1 ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 186



दूसरे को सुन्दर शय्या प्राप्त है।''<sup>136</sup> समाज में यह वर्गगत बन्धन मानव को जकड़े हुए था। राजा तथा प्रजा का सम्बन्ध भी शोषणपूर्ण हो गया था। धार्मिक कठमुल्लाओं ने राजनीति को अत्यन्त प्रभावित किया था तथा शासन को परोक्षतः वे लोग ही नियंत्रित कर रहे थे। कबीर ने इन धार्मिक कठमुल्लाओं की अनुचित नीतियों का विरोध किया क्योंकि जनसामान्य उनकी नीतियों से प्रतिक्षण शोषित हो रहा था। वे पण्डित को धिक्कारते हुए कहते हैं- "हे पंडित तुम्हें कौन सी कुमति लग गई है तू राम नाम नहीं जपता इसीलिए अभागा है, तुम्हारा वेद पुराण का विवेकहीन पाठ बिल्कुल ऐसे है जैसे गधे पर चन्दन का बोझा लदा हो अर्थात् जैसे गधा चन्दन के महत्त्व को नहीं समझता उसी तरह तुम भी वेद-पाठ के मर्म को नहीं समझते। राम नाम का सार तुम समझते नहीं। इस प्रकार अन्तिम समय तुम्हारे मुँह पर राख पड़ती है।''<sup>137</sup> मानव को चाहिए कि वह राम नाम का मर्म समझे और पंडित की कुचक्रपूर्ण नीतियों से

136. मन रे अहरधि बाद न कीजै, अपनां सुकृत भरि-भरि लीजै ॥टेक॥

कुंअरा एक कमाई माही, बहु विधि जुगति वणाई।

एकनि में मुक्ताहल मोती, एकनि व्याधि लगाई।

एकनि दीना पाट पटंवर, एकनि सेज निवारा।

एकनि दीनी भरै गूदरी, एकनि सेज पयारा ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 352

137. पांडे कौन कुमति तोहि लागी।

तू राम न जपहि अभागी ॥टेक॥

वेद पुरान पढ़त अस पांडे, अरु चंदन जैसे भारा।

राम नाम तत समझत नोहो, अंतिकाल परै मुख छारः ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 314

स्वतन्त्र रहे। लोगों को मुल्ला की अनुचित नीतियों के प्रति भी सतर्क रहना चाहिए—  
 “हे मुल्ला! तुम ऊँची आवाज़ में दूर से किसे पुकारते हो। राम रहीम तो मानव के भीतर ही रमा हुआ है।”<sup>138</sup> कबीर तो राम को अपने न्यायप्रिय राजा के रूप में स्वीकार करते हैं।<sup>139</sup> तत्कालीन सामन्ती राजा का परिचय देते हुए कबीर कहते हैं—  
 “प्रभु का महल बहुत दूर और अगम है मैं गरीब वहाँ कैसे पहुँच सकता हूँ। उस राजा के पास सत्तर हजार तो सैनिक और अस्सी लाख पेगम्बर हैं। अट्ठासी हजार शेख और छप्पन करोड़ खेलने वाले हैं।”<sup>140</sup> राजाओं का वैश्य निर्धन वर्ग को और भी निर्धन बनाता जा रहा था। कबीर सत्य को स्थापित करते हुए कहते हैं— “धन यौवन के मद में सारा संसार डूबा हुआ है किन्तु सुख तो केवल राम के चरणों में रमने से ही प्राप्त हो सकता है।”<sup>141</sup> कबीर भी ईश्वर को सामाजिक सम्बन्धों की

138. मुलां कहां पुकारे हरि, राम रहीम रह्या भरपरि ।टेक ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 327

139. राम राई तेरी मति जानी न जाई

जो जस करिहे सौ तश पड़ है, राजा राम नियाई ।टेक ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 411

140. तहां मुझ गरीब की कौ गुदरावै। मजलसि दूरि महल को पावै ।टेक ॥

सतरि सहस्र सलार हैं जाके, असी लाख पैगंबर ताकै।

सेख जू कहिय सहस अट्यासी, छपन कौड़ि खिलियै खासी ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 492

141. धन यौवन गरवायौ संसारा, यहु तन जरि बरि है है संसारा।

चरिन कवल मन राखि ले धीरा, राम रमत सुख कहै कबीरा ॥272 ॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 451

प्रतिच्छवि मानते हैं। कभी वे उसे जननी,<sup>142</sup> के रूप में, कभी भाई के रूप में,<sup>143</sup> और कभी पिता के रूप में देखते हैं।<sup>144</sup> इन सबका तात्पर्य यह है कि मानव को सभी सम्बन्ध ईश्वर की अभिव्यक्ति का आधार सामाजिक सम्बन्ध ही है। इसी प्रकार कबीर मानते हैं कि वर्गगत बन्धन मुक्ति का अन्त आवश्यक है। तभी स्वस्थ सम्बन्धों की स्थापना संभव होगी। और स्वस्थ सम्बन्धों की स्थापना में ही मानव की स्वतन्त्रता है जिस तरह कबीर ने उस वर्ग को जो ब्राह्मणों के प्रपंच से पिस रहा था स्वतन्त्र किया उसी तरह वर्ण व्यवस्था का प्रतिरोध करते हुए गुरु नानक देव जी कहते हैं, “ब्राह्मण वही है जिसे ब्रह्मा ने स्वयं बनाया है, जिसके पास जप, तप, संयम जैसे शुभ कर्म हैं, जिसका धर्म शील और संतोष है, जो प्रत्येक बन्धन को तोड़ कर स्वतन्त्र रहता है, वही ब्राह्मण पूज्य है। क्षत्रीय वही है जो कर्मों से शूर है, जो दान पुण्य करता है, जो खेत को पहचान कर उसमें बीजारोपण करता है, अर्थात् अपने जीवन में अच्छे कर्म करता है। वही क्षत्रीय परमात्मा के दरवार में स्वीकृत होता है। यदि वह लोभ असत्य का सहारा लेता है तो वह उसका फल स्वयं प्राप्त करेगा। हे मानव!

142. हरि जननि में बालक तोरा,

काहे न आंगुण वक्सहु मोरा ॥टेक॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 357

143. जाके राम सरीखा भाई, सो क्यूं अनंत पुकारन जाई।

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 359

144. बाप राम सुनि बीनती मोरी,

तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सूं धोरी ॥टेक॥

--- कबीर ग्रन्थावली पृ० 2

तू अपने तन को तदूर के समान न तपा अपनी हड्डियों का जतावन न कर। सिर पैरों को फोड़ने से क्या होगा अपने मन को संभाल।<sup>145</sup> इस प्रकार गुरु नानक के शब्दों में यदि प्रत्येक मानव जाति-पाति को मिटाकर अपने कार्य क्षेत्र को पहचान ले तो वह सब प्रंपचों से स्वतन्त्र रह सकता है। मध्यकालीन धर्म, समाज, राजनीति का स्वरूप इतना विकृत हो चुका था कि उसमें सुधार के लिए किसी क्रान्ति की अत्यन्त आवश्यकता थी। सन्तों ने इस सारी स्थिति को समझा और धर्म समाज तथा राजनीति के रुग्ण पक्ष को जी भर कर कोसा। गुरु नानक भी इस धारा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। सामाजिक धरातल पर वे जाति-पाति का विरोध करते हुए कहते हैं- “जाति का अहंकार व्यर्थ है। नाम का अहंकार व्यर्थ है, क्योंकि सभी लोगों को एक ही प्रभु का सहारा है, यदि कोई स्वयं को जाति या बड़प्पन के कारण अच्छा कहलाये तो वह अच्छा नहीं हो सकता है। अगर उसका सम्मान हरि के लेखे में स्वीकृत हो।<sup>146</sup> अरे भाईयो!

---

145. सो ब्राह्मण जो बिदें ब्रह्म ॥ जपु तपु संजम कमावै करमु ॥

सील संतोख का रखै धरमु ॥ बांध न तोडे हावे मुक्त ॥

सोई ब्राह्मण पूजण जुगतु ॥ 6 ॥ खत्री सोई जु करमा का सूर ॥

पुन दान का करै सरीर ॥ खेत पछाणे बीजै दान ॥

सो खत्री दरगाह परवाण ॥ लव लोभ जो कूड़ कमावै

अपना कीता आपै पावै ॥7 ॥ तन न तापावि तदूर जिउं बालण हड न बाल ॥

सिरि पैरि किआ फोड़िया अंदरि फिरि संभाल ॥

--- शब्दार्थ वाणी श्री गुरु नानक देव जी पृ० 596

146. फकड़ जाति फकड़ नाउ। सभनां जीआ इका छाऊ।

आपहु जे को भला कहाये। नानक तां परु जापै जा पति लेखै पाय ॥1 ॥

--- तारन सिंह, गुरु नानक वाणी पृ० 212

किसी जीव की पहचान करने के लिए यह देखो कि उसकी आत्मा किस मंजिल पर खड़ी है। उस जीव की जाति-पाति से उसका मूल्यांकन न करो क्योंकि प्रभु की दरगाह में जाति-पाति की कोई महानता नहीं है।<sup>147</sup> इसलिए मानव को जाति-पाति के भेद-भाव से मुक्त रहना चाहिए। गुरु नानक भारत में व्याप्त जातीय भेद में विश्वास नहीं करते थे। ये भारतीय समाज को समता और एकता के सूत्र में बांधना चाहते थे। इसीलिये इन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक जातीय भेद-भाव की आलोचना की और उन्हें श्रेष्ठ मानव बनाने के लिए अनुप्रेरित किया। इन्होंने स्पष्ट घोषित किया कि जाति-पाति के झगड़े में मत पड़ो। एक परमात्मा की ज्योति ही प्रत्येक मनुष्य में है चाहे वह किसी भी जाति या धर्म का हो-

जाणहु जोति न पूछहु जाती

आगै जाति न हे ॥१॥ रघऊ ॥ - रागु आसा<sup>148</sup>

गुरु नानक जाति-प्रथा के कठोर विरोधक थे। वे अपने मन्तव्य को स्थापित करते हुए लिखते हैं- “गुरु नानक ने इस भावना (वर्ण-व्यवस्था) के कृत्यों का निस्संकोच रूप से खण्डन किया। वस्तुतः वे किसी को भी उत्तम अथवा नीच न मानकर सभी को समान मानते थे।”<sup>149</sup> उनके अनुसार नीच वह है जो अपने मालिक

147. जाणहु जोति न पूछहु जाती आगे जाति न हो ॥१॥

--- तारन सिंह, गुरु नानक वाणी पृ० 394

148. जाणहु जोति न पूछहु जाती। आगै जाति न हे ॥१॥ रहाऊ

-- रागु आसा

149. “नानक उत्तमु नीचु न कोई ॥”

-- जपुजी-पऊड़ी-३३

अथवा सत्य स्वरूप परमात्मा को भुला देता है।<sup>150</sup> जाति के हाथ में कुछ नहीं है, परमात्मा के द्वार पर तो सत्य की परख होती है। जातीय अहंकार विष के समान है और जिसके पास वह विष है वह इसे चखने पर अवश्य ही मर जायेगा।<sup>151</sup> हमारे विचार के अनुसार गुरु नानक ने ही सर्वप्रथम सुव्यवस्थित और सुसंगठित रूप से जाति-प्रथा के विरुद्ध प्रचार किया था। जाति व्यवस्था के सामाजिक सिद्धान्त का खण्डन किया और इसे समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक बताया तथा मानव को इन प्रपंचों से स्वतन्त्र कराने का भरसक प्रयास किया। रैदास में विद्रोह तत्त्व उतने उग्र रूप में विद्यमान नहीं है जितना कि कबीर तथा नानक जैसे साधकों में मिलता है। रैदास विनम्र रहते हुए भी जीवन को आबद्ध करने वाली प्रत्येक अवधारणा को उखाड़ फेंकने के पक्ष में हैं। उनकी विद्रोह भावना भी सामाजिक तथा धार्मिक धरातलों पर अभिव्यक्त हुई है। सामाजिक धरातल पर वे जातीयता के बन्धनों का उन्मूलन कर देना चाहते हैं वे कहते हैं “मेरी जाति ओछी है, पाति भी ओछी है और यहां तक की जन्म भी ओछा है और मैं राजा राम की सेवा करता हूँ, रविदास चमार यह कहता है।”<sup>152</sup> इस प्रकार रैदास बार-बार अपने शुद्रत्व का उद्घोष कर ब्राह्मणों को चुनौती देना चाहते

150. खसम विसारहि ते कमजाति ॥

-- राग आसा

151. “जाति दै किआ हथि सचु चंरखीए ॥” महुरा होवै हथि मरीए चखीए ॥

-- राग माझ, वार, पउड़ी 10

152. जाती ओछा पांति ओछा, ओछा जनम हमारा।

राजा राम की सेव न कीनी, कहि रविदास चमारा ॥3 ॥

संत रविदास वाणी पृ० 88

हैं और यह समझाना चाहते हैं कि केवल जाति ऊँची होने से ही कोई ऊँचा नहीं हो जाता। उसके लिए शुभ कर्म की आवश्यकता है। रैदास की प्रतिरोध परक धारणा सामाजिक आधार लिए हुए हैं जिसमें साधक की अपनी वर्गीय चेतना भी स्पष्टः मुखरित है। समाज में आदर्श सम्बन्धों की स्थापना में जातिगत भेदभाव प्रमुखतः बाधक हो रहे थे। इसलिए रैदास में जाति व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना प्रबल रूप में दृष्टिगत होती है। जब वे स्वयं को बार-बार चमार कह उठते हैं तो यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि उन्हें चमार होने पर कोई लज्जा नहीं अपितु वे अपनी जाति से उपजने वाली हीन भावना से सर्वथा स्वतन्त्र रहे हैं। वे कहते हैं- “हे नगर वासियों मेरी जाति विख्यात चमार है किन्तु मेरा हृदय राम गोबिन्द के गुणों के सार से आपूरित है।”<sup>153</sup> अर्थात् परमात्मा ने उन्हें हीन जाति के होने पर भी अपनी कृपा से अनुगृहीत किया। इसीलिए वे जातिगत हीन भावना से स्वतन्त्र हो गए हैं। संतों ने यह स्वीकार किया है कि परमात्मा यदि चाहे तो नीच को उच्च कर सकता है। मानव स्वातन्त्र्य के लिए इस तथ्य को जान लेना अनिवार्य है। रैदास जी जाति से चमार थे, इसका संकेत उनके पदों से स्पष्ट होता है।<sup>154</sup> वे अपने-आपके चमार जाति का कहते हुए शायद तत्कालीन परिवेश में फैली जातीय हीन-भावना को मिटाने का प्रयास कर रहे होंगे।

---

153. नागर जना मेरी जाति विख्यात चमारं। रिदै राम गोबिन्द गुन सारं ॥

--- संत रविदास वाणी पृ० 90

154. कहि रविदास खलास चमारा। जो हम सहरी सुमीत हमारा ॥

नागर जनां मेरी जाति विख्यात चमारं। रिदै राम गोबिन्द गुन सारं ॥

--- गुरु ग्रन्थ साहिब, राग गउड़ी पृ० 345

उनके पदों में बार-बार इस शब्द के प्रयोग से यह भी प्रतीत होता है कि वे ऊँची जाति से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्यों का मिथ्या अभिमान दूर कर जातीयता के बन्धन से उन्हें मुक्त करवाना चाहते थे।

रैदास जी इस प्रकार का राष्ट्र चाहते हैं, जहाँ धर्म की स्वतन्त्रता बनी रहे। रैदास साम्प्रदायिकता के कट्टर विरोधी थे। उनका अभिमत था कि उद्योगपति की ओर ले जाने वाला सम्प्रदाय समाज के लिए एक अभिशाप है। वे सभी धर्मों का समान आदर करते थे। उन्होंने किसी व्यक्ति विशेष या सम्प्रदाय विशेष को महत्त्व न देकर केवल ईश्वर नाम स्मरण को प्रमुख माना है। उनकी दृष्टि में राम, कृष्ण, करीम, वेद कुरान सभी एक हैं और प्रभु नाम का स्मरण कराते हैं।<sup>155</sup> इसी प्रकार रैदास ने मानव को इन सब बन्धनों से मुक्त करने का प्रयास किया है।

### निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि तद्युगीन मनुष्य जातिगत, साम्प्रदायिक एवं वर्गगत के दमन-चक्र में पिस कर रह गया था। ऐसे समय में ऐसे क्रान्तिपूर्ण स्वर की आवश्यकता थी जो इन बन्धनों के रूग्न पक्ष को काट फेंकने के समर्थ होता और लोगों के जीवन में एक नयी शक्ति का संचार करता। ऐसा कार्य सन्त कवियों ने करने की भरसक चेष्टा की। इनमें संत कबीर, रैदास और नानक मानव को स्वतन्त्र मानते

---

155. कृष्ण करीम राम हरिराधव,

जब लग एक ने पेखा,

वेद कतेब कुरान पुरानन, सहज एक नहि पेखा

--- डी० पी० सरिन, नीच ते उच की ओ मेर सतिगुरु, पृ० 126 पद 16



हुए जातिगत समानता की प्रबल भावना को लेकर जनता के सन्मुख उपस्थित हुए और उन्होंने जनता को सच्चा मार्ग दिखाने का प्रयत्न किया। वस्तुतः सन्त साहित्य में जातीय, साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत बन्धन से मुक्त करने का श्रेय इन्हीं तीन प्रमुख महान् संतों को रहा है। उन्होंने जिस समाज का निर्माण किया था, उसमें जाति-पाति की भावना को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। विभिन्न धर्मों, विभिन्न वर्गों को एक समान महत्त्व प्रदान किया गया। गुरु नानक देवजी जाति-प्रथा के कठोर विरोधक थे। उन्होंने तो जातीय अहंकार को विष के समान माना है। वास्तव में गुरु नानक ने ही सर्वप्रथम सुव्यवस्थित और सुसंगठित रूप से जाति-प्रथा के विरुद्ध प्रचार किया था। सन्त कवियों ने नागरिकों में नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा की और समाज को सुन्दर एवम् समृद्ध बनाया। प्रत्येक मानव को स्वतन्त्रता की दृष्टि से अपने साहित्य में उतारा। इनके द्वारा निर्मित, कल्पित समाज में सदैव सुख और खुशहाली विद्यमान थी। स्पष्ट है कि इन सन्तों ने मानव स्वातन्त्र्य चेतना को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने मानव को जातीय, साम्प्रदायिक एवम् वर्गगत बन्धन से मुक्त करवाने का भरसक प्रयास किया है। रैदास जी ने जिस समाज का निर्माण किया था उसमें ऊँच-नीच की भावना को कोई महत्त्व नहीं दिया गया अपितु विभिन्न धर्मों के विभिन्न वर्गों को एक समान महत्त्व प्रदान किया गया। उनमें एकत्व की भावना का निर्माण किया गया। इनके द्वारा निर्मित समाज में हमेशा सुख और खुशहाली विद्यमान रहती थी। 'बेगमपुरा' के द्वारा वे अपने समाज का चित्रण करते हैं जोकि इस प्रकार है-

बेगमपुरा सहर को नाउ दूखु अंदोहु नहीं तिहि ठाउ ॥

नां तसवीर खिराजु न मालू ॥ खउफु न खता न तरसु जवालु ॥२ ॥

अब मोहि खूब वतन गइ पाई ॥ ऊहां खैरि सदा मेरे भाई ॥१॥ रहाउ ॥

काइमु दाइमु सदा पातिसाही ॥ दोष न सेम एक सो आही ॥

आबादानु सदा मसहूर ॥ ऊहां गनी बसहि मामूर ॥२॥

तिउ तिउ सैल करहि जिउ भावै ॥ महरम महल न को अरकावै ॥

कहि रविदास खलास चमारा ॥ जो हम सहरी सु मीतु हमारा ॥३॥१॥

---राग गउड़ी, शब्द-2

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि रैदास जी ने सामाजिक जीवन में सभ्यता और स्वतन्त्रता को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया। इन्होंने अपने समाज को दुःख चिन्ता से रहित बनाया। इनके द्वारा निर्मित समाज में हमेशा शान्ति और समृद्धि सर्वत्र परिलक्षित होती है।

उपसंहार

निर्णय एवम् उपलब्धियाँ

सहायक ग्रन्थ सूची

पत्रिकाएँ

## उपसंहार

सन्त साहित्य में मानव-स्वातन्त्र्य अपने विविध रूपों सहित उपस्थित हुआ है। आधुनिक विश्व-चिन्तन अधिकाधिक मानव-केन्द्रित होता चला गया है। इसी कारण मानव के सुख-दुःख इत्यादि को दृष्टिगत रख कर मानव स्वातन्त्र्य विषयक चिन्तन भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की स्थिति में आ गया है। मानव स्वातन्त्र्य की अवधारणा विश्व चिन्तन में समाज-ऐतिहासिक, समाज-सांस्कृतिक और दार्शनिक सन्दर्भों में सतत् विकासमान रही है। वैदिक दर्शन से लेकर भक्ति कालीन आचार्यों तक के दर्शन की प्रमुख समस्या मानव की स्वातन्त्र्य भावना की रही है क्योंकि स्वातन्त्र्य की अनुपस्थिति भय को जन्म देती है और भय की उपस्थिति में मानव अपना सर्वोन्नमुखी विकास करने की स्थिति में नहीं होता। अस्तित्ववादी विचारधारा से लेकर आधुनिकतावादी विचारधारा तक पाश्चात्य दर्शन के विकास क्रम को 'मानव जीवन को सुखपूर्ण कैसे बनाया जाये'- इस विचार दृष्टि ने निरन्तर प्रभावित किया है। यही कारण है कि तत्पश्चात् इन्हीं दर्शनों के आधार पर आधुनिक विश्व-चिन्तन सर्वाधिक मानव-केन्द्रित हो गया। वास्तव में मानव स्वातन्त्र्य की धारणा भी आधुनिक है। मध्यकालीन सन्त साहित्य में मानव-स्वातन्त्र्य की अवधारणा का विकास आध्यात्मिक दृष्टि में हो जाता है। सन्तों ने दुःख मुक्ति की धारणा को नकारते हुए यह घोषित किया कि जीवन को उसकी समग्र सुख-दुःखात्मकता सहित स्वीकार करना तथा भोगना चाहिए तथापि जीवन तथा संसार के प्रति विराग-भाव की अभिव्यक्ति भी प्रचुर मात्रा में उन्होंने की है। इस अभिव्यक्ति का अर्थ यह न था कि सन्तों ने जीवन के प्रति पलायनवादी दृष्टिकोण अपना लिया था, बल्कि इस सारी प्रक्रिया के पीछे यह उद्देश्य निहित था कि सांसारिक

आकर्षणों के प्रति मानव सचेत रहे तथा इनके भ्रमात्मक अथवा नकारात्मक पतनशील रूपों में सर्वथा स्वतन्त्र रहें। वे ऐसी स्थितियों के अतिक्रमण का साधन अनन्य रूप से भगवद्-समर्पण को मानते थे।

सन्त साहित्य के उदय में नाथ-सिद्धों की पुरातन परम्परा तथा भक्तिकालीन आचार्यों के नव्य चिन्तन ने तत्कालीन समाज-ऐतिहासिक, समाज सांस्कृतिक एवं दार्शनिक पक्षों में उपादेय भूमिका निभाई। मध्यकाल के अन्तर्गत अकबर का मुगल काल, राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्था और शान्ति काल है। इस व्यवस्था तथा शान्ति के काल में देश का चतुर्मुखी विकास हुआ। इस काल में निम्नवर्ग को अपनी शोचनीय अवस्था के प्रति जागरूक होने का अवसर मिला। राजनीतिक व्यवस्था के इस काल में पतनोन्मुखी सामन्तीय व्यवस्था अपने घोर विकृत रूप में उपस्थित हो रही थी। इस सामन्तीय-चेतना ने व्यक्ति समाज, धर्म, मन और सबको गहरे में प्रभावित कर रखा था। इस चेतना से समाज निरन्तर पतनोन्मुख हो रहा था। यह युग की आवश्यकता थी कि इस चेतना से मानव को स्वतन्त्र करने का प्रयास किया जाए। सन्त कवियों ने यह उत्तरदायित्व बाखूबी निभाया। जीवन के साधारण से साधारण क्रियाकलाप को आध्यात्मिक उपलब्धि का माध्यम बनाने का श्रेय सन्त कवियों को जाता है। इन्होंने यह निष्कर्ष दिया कि मानव खुले मन से इस जगत् की सुख-दुखात्मकता को स्वीकार करे। इस सबको भोगते हुए जीवन की नश्वरता के प्रति भी सचेत रहे एवम् मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा रखते हुए मानवाधिकार चेतना में प्रवेश करे तभी वह सभी स्थितियों में अनासक्त एवं स्वतन्त्र रह सकता है।

## निर्णय एवं उपलब्धियाँ

सन्त साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य के समाज ऐतिहासिक रूप जन-धाराओं के उत्थान तथा परिवर्तित होती आर्थिक अवस्था के परिप्रेक्ष्य में उभरे। इस्लाम के संपर्क ने हिन्दू धर्म की संकीर्ण दृष्टि को चुनौती दी। परिणामतः अधिकांश निम्न वर्गों के लोगों द्वारा इस्लाम ग्रहण करने की परम्परा के उन्मेष ने हिन्दू-धर्म को अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य कर दिया। फलतः हिन्दू धर्म ने अपनी नीतियों को कुछ लचीला बनाया तथापि बाह्याचारों तथा भ्रमजालों के माध्यम से जनता का शोषण होता रहा। मध्यकालीन काव्यों के परिदृश्य में मध्यकाल में निम्न तथा निम्न मध्यवर्ग का मानव स्वातन्त्र्य के लिए सशक्त रूप से उठना एक अभूतपूर्व घटना है। सन्त साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य के समाज-ऐतिहासिक रूप को निरन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

मध्यकाल में जीवन के शिल्प-पक्ष को सर्वाधिक महत्त्व मिला। छोटे-छोटे उद्योग धन्धों का विकास हुआ इस विकास का प्रभाव सन्त साहित्य पर पड़ा तथा सन्त साहित्य में जीवन के श्रम साध्य शिल्प पक्ष को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गई। मानव-स्वातन्त्र्य के समाज सांस्कृतिक रूप को स्पष्ट करने में शिल्प पक्ष ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके द्वारा सन्तों ने श्रम के महत्त्व को स्थापित किया तथा छोटे से छोटे उद्योग धन्धे को सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखने का आग्रह किया। इस प्रकार सन्त-साहित्य में मानव स्वातन्त्र्य का समाज-सांस्कृतिक रूप प्रगतिशील है।

मानव स्वातन्त्र्य के दार्शनिक विकास में वैदिक अर्न्तधारा से लेकर भक्तिकालीन आचार्यों की दार्शनिक विचारधारा तक का अनुभूत्यात्मक विकास दिखाई देता है। इस

अनुभूत्यात्मक विकास में प्रेम तथा आनन्द के तत्त्व जुड़ गये जो कि इससे पूर्व दर्शन के क्षेत्र में अनुपलब्ध थे।

इस प्रकार सन्त साहित्य मानव स्वातन्त्र्य की विराट् चेष्टा है। सन्त-साहित्य मानव स्वातन्त्र्य की दृष्टि से अध्ययन से प्राप्त उपर्युक्त निष्कर्ष इस शोध-प्रबन्ध की उपलब्धि है।

### सहायक ग्रन्थ-सूची

1. आज़ाद, पृथ्वी सिंह रविदास दर्शन  
बी० पी० सिंह आर-आई  
साधु आश्रम, होशियापुर, 1973
2. उपाध्याय, राम जी, भारत की संस्कृति साधना  
राम नारायण लाल  
इलाहाबाद, सं० 2016
3. उपाध्याय, विश्वम्भर नाथ, हिन्दी काव्य की तांत्रिक पृष्ठभूमि  
साहित्य भवन, प्रा० लि०  
इलाहाबाद, 1963 ई०
4. उपाध्याय, नगेन्द्रनाथ नाथ और संत साहित्य ( तुलनात्मक अध्ययन )  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,  
वाराणसी, 1965

5. उपाध्याय, बलदेव                      **भारतीय दर्शन**  
शारदा मन्दिर,  
वाराणसी, 1966
6. उपाध्याय, बलदेव                      **बौद्ध दर्शन मीमांसा**  
चौखम्भा विद्याभवन चौक  
बनारस, 1954
7. के दामोदरन                              **भारतीय चिन्तन परम्परा**  
पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस  
नई दिल्ली, 1968
8. कालिया, अशोक कुमार              **लक्ष्मी तन्त्र धर्म और दर्शन**  
अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्  
लखनऊ, 1977
9. गुप्ता, आशा                              **मध्ययुगीन सगुण और निर्गुण हिन्दी**  
साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन  
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग. 1970
10. देवराज, नंदकिशोर                      **भारतीय दर्शन**  
हिन्दी संस्थान,  
उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1983



11. द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद      **नाथ सम्प्रदाय**  
 वाराणसी, नैवैद्य निकेतन, 1966 ई०
12. द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद      **नाथ सिद्धों की बानियाँ**  
 नागरी प्रचारिणी सभा  
 वाराणसी, सं० 2014
13. द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद      **मध्यकालीन धर्मसाधना**  
 साहित्य भवन, प्रा० लि०  
 इलाहाबाद, 1962
14. चतुर्वेदी, परशुराम      **सन्त काव्य संग्रह**  
 किताब महल, इलाहाबाद, 1952
15. चतुर्वेदी राधानाथ, राजनारायण गुप्त      **पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास**  
 किताब महल, इलाहाबाद, 1959
16. चतुर्वेदी, परशुराम      **उत्तरी भारत की संत परम्परा**  
 भारती भण्डार, प्रयाग, 2008
17. चौहान, प्रताप सिंह      **सन्तमत**  
 ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, 1973
18. पाण्डेय, दर्शन पी०      **सन्त रैदास**  
 संगम लाल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण

19. पाण्डेय, राम खेलावन      मध्यकालीन संत साहित्य  
 प्रचारक पुस्तकालय  
 वाराणसी, 1965
20. प्रसाद, सुरेन्द्र मोहन      शाक्त दर्शन और हिन्दी के वैष्णव कवि  
 अनुपम प्रकाशन, पटना, 1981
21. पाण्डेय, राजेन्द्र      भारत का सांस्कृतिक इतिहास  
 उत्तर-प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ  
 अकादमी, लखनऊ, 1976
22. पानेरी, हेमिन्द्र कुमार      स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास  
 मूल्य संक्रमण  
 संघी प्रकाशन, जयपुर 1974
23. बड़धवाल, पीताम्बरदत्त      गोरखबानी  
 हिन्दी साहित्य सम्मेलन  
 प्रयाग, 2017 सं०
24. बेलवेडियर प्रेस      रैदास जी की वाणी  
 प्रयाग, 1930
25. बाजपेयी, नारायण प्रसाद      भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना  
 राज पब्लिशिंग हाऊस  
 दिल्ली, 1978

26. भटनागर, रामरतन **कबीर साहित्य की भूमिका**  
रामनारायण लाल, इलाहाबाद, 1950
27. भाटिया, सुदेश **सन्त कवि नानक, एक**  
अनुशीलन, अनुपम प्रकाशन  
पटना, 1966
28. भारती, धर्मवीर **मानव मूल्य और साहित्य**  
सन्त मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1960
29. भारती, धर्मवीर **सिद्ध साहित्य**  
किताब महल, इलाहाबाद, 1955
30. मौर्य, प्रह्लाद **कबीर का सामाजिक दर्शन**  
पुस्तक संस्थान, नेहरू नगर, कानपुर, 1973
31. मजीठिया, सुदर्शन सिंह **संत साहित्य**  
रूपकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962 ई०
32. मालविका, विद्यावती **हिन्दी सन्त साहित्य पर**  
बौद्ध धर्म का प्रभाव  
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,  
वाराणसी, 1966 ई०

33. मेहता, विमल  
निर्गुण कवियों के सामाजिक आदर्श  
आशा प्रकाशन ग्रह, दिल्ली, 1979 ई०
34. मंगल, लालचन्द गुप्त  
अस्तित्ववाद और नई कहानी  
सूर्य प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली।
35. मेघ, रमेश कुन्तल  
आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण  
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1969
36. मदान, इन्द्रनाथ  
कविता और कविता  
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967
37. मैनी, धर्मपाल  
सन्तों के धार्मिक विश्वास  
नवजोत पब्लिकेशन, मालेरकोटला, 1966
38. मैनी, धर्मपाल  
मध्ययुगीन निर्गुण चेतना  
लोकभारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972
39. मैनी, धर्मपाल  
रैदास  
साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1979
40. मिश्र, भोला नाथ  
हिन्दी सन्त साहित्य में  
प्रतिबिम्बित समाज, साहित्य-वाणी  
इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1981

41. मनमोहन, सहगल  
संतकाव्य का दार्शनिक विश्लेषण  
भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़  
प्रथम संस्करण, 1965
42. मिश्र उर्मिला  
आधुनिकता और मोहन राकेश  
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
43. मिश्र शिवकुमार  
मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन  
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी  
भोपाल, 1973
44. माधव, भुवनेश्वर मिश्र  
संत साहित्य और साधना  
दिल्ली, 1969  
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस  
कबीर और रैदास  
(एक तुलनात्मक अध्ययन)  
सौहार्द, प्रकाशन, आजमगढ़, 1978
45. राय, चन्द्रदेव  
संत गुरु रविदास वाणी  
सूर्य प्रकाशन, नयी दिल्ली  
सम्बत्, 2035
46. शर्मा, वी० पी०  
अस्तित्ववाद  
किर्केगाद से कामू तक
47. शाही, योगेन्द्र

48. शर्मा, रामविलास **मानव सभ्यता का विकास**  
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1965
49. शर्मा, नरेन्द्र कुमार **भारतीय दर्शन और संत पानपदात**  
अभिनव प्रकाशन, आगरा, 1983-84
50. शर्मा, रामविलास **माक्सर्ववाद और प्रगतिवाद**  
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1984
51. सहायक, रामजीलाल **कबीर दर्शन**  
हिन्दी विभाग विश्वविद्यालय,  
लखनऊ, 1963
52. सिंह, योगेन्द्र **संत रैदास ( कृतित्व जीवन और विचार )**  
अक्षर प्रकाशन ( प्रा० लि० ), दिल्ली, 1972
53. सिंह, राजदेव **सन्त साहित्य पुनर्मूल्यांकन**  
आर्य बुक डिपो, करौलबाग  
नई दिल्ली, 1973
54. सिंह, जगन **आधुनिकता और हिन्दी कहानी**  
प्रासंगिक प्रकाशन, दिल्ली, 1980
55. सिंह, पदम गुरचरन **संत रविदास**  
विचारक और कवि  
नव-चिन्तन प्रकाशन, जालन्धर, 1977

56. सिंह, पदम गुरचरण

युग-प्रवर्तक गुरु नानक

और उनकी वाणी

नव-चिन्तन प्रकाशन

जी० टी० रोड़ अमृतसर, 1990

57. सिंह, महीप

संत कवि गुरु नानक

सरस्वती विहार

दिल्ली, 1989

58. स्नातक, विजयेन्द्र

विचार के क्षण

नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1970

59. त्रिपाठी, आर्याप्रसाद

कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन

सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974

60. त्रिगुणायत

कबीर की विचारधारा साहित्य

निकेतन, कानपुर, 2914 सम्वत्

### मूल ग्रंथ सूची

1. दास, श्यामसुन्दर

कबीर ग्रन्थावली

नागरी प्रचारिणी सभा

वाराणसी, सं० 2018

2. मिश्र, जयराम

नानक-वाणी

मित्र प्रकाशन (प्रा० लि०)

इलाहाबाद

3. सिंह, पुष्पपाल

कबीर ग्रन्थावली स्टीक

अशोक प्रकाशन

दिल्ली, 1962

4. शर्मा वी० पी०

संतगुरु रविदास वाणी

सूर्य प्रकाशन

नई सड़क दिल्ली, 2035 सं०

हिन्दी शब्द कोश

1. गाबा ओम प्रकाश

राजनीति विज्ञान कोश

बी० आर प्रकाशन, दिल्ली

2. वर्मा, धीरेन्द्र

हिन्दी साहित्य कोश ( प्रथम भाग )

वाराणसी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, 1960

3. रावत, हरि कृष्ण

समाज शास्त्र कोश

अंग्रेजी शब्द कोश

4. **Encyclopaedia of social sciences**

New york, The Macmillan Company Vol. 7-8, 1959

5. **Encyclopaedia of social sciences**

New york, The Macmillan Company. Vol. 9-10, 1959



## पत्रिकाएँ

1. कल्याण
2. नागरी प्रचारिणी पत्रिका
3. पाटल
4. पंजाब सौरभ
5. ब्राह्मण
6. विश्व भारती पत्रिका
7. हिन्दी अनुशीलन

